शैक्षणिक

संदर्भ

वर्ष:7 अंक:37 (मूल क्रमांक 94)
सितम्बर-अक्टूबर 2014 मूल्य: ₹ 30.00

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सहायक सम्पादक
पारुल सोनी
अम्बरीष सोनी
विनता विश्वनाथन
सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी
रुस्तम सिंह
उमा सुधीर
आवरण
राकेश खत्री
प्रोडक्शन एवं डिज़ाइन
कमलेश यादव
इन्दु नायर
वितरण
झनक राम साहू

शैक्षणिक
संदर्भ
शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
वर्ष:7 अंक:36 सितम्बर-अक्टूबर 2014
(मूल क्रमांक 94)
एक प्रति का मूल्य: ₹ 30.00

सम्पादन एवं वितरण
एकलव्य, ई-10, बी.डी.ए. कॉलोनी,
शंकर नगर, शिवाजी नगर,
भोपाल, म. प्र. 462 016
फोन : 0755 - 255 1109, 267 1017
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन- sandarbh@eklavya.in
वितरण- circulation@eklavya.in

सदस्यता	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
व्यक्तिगत	150 रुपए	400 रुपए	2500 रुपए
संस्थागत	300 रुपए	750 रुपए	5000 रुपए

मुखपृष्ठ: एकैरस सीरो (आटे में पाया जाने वाला कीड़ा) का कम्प्यूटर द्वारा रंगीन किया गया इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोपिक फोटो: प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी 1000 गुना आवर्धन की क्षमता रखते हैं पर अगर इसके भी आगे जाना हो तो क्या? वैज्ञानिकों ने पाया कि सूक्ष्मदर्शी की आवर्धन क्षमता की सीमा इस्तेमाल किए जा रहे प्रकाश के तरंग-दैर्ध्य से निर्धारित होती है। इसी आधार पर इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी बने हैं। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी के विज्ञान को समझाता हुआ *लेख पृष्ठ 13 पर*।

पिछला आवरण: पॉल ऑक्टोपस का फोटोग्राफ: 2010 के फुटबॉल वर्ल्ड कप में जर्मनी के इस ऑक्टोपस द्वारा की गई तथाकथित सटीक भविष्यवाणियों ने सभी को अचम्भित कर दिया था। इसके बाद कई सारी बहसें और विमर्श एक साथ शुरू हो गए थे। क्या ऑक्टोपस जैसे जीवों में ज्ञान और समझ का वह स्तर होता है कि वे ऐसी भविष्यवाणियाँ कर सकें? यह किसी ट्रेनिंग का कमाल था या फिर कुछ गणित, या फिर केवल संयोग? इस पर पढ़िए सवालीराम का जवाब *पृष्ठ 21 पर*।

लिंक: मुखपृष्ठ: http://sadhillnews.com/wp-content/uploads/2010/09/mite.jpg
आवरण 4: http://www.theguardian.com/football/2011/apr/07/paul-octopus-euro-2012-pavlik

इस अंक में उन सब चित्रों के स्रोत जिनके बारे में चित्र या लेख के साथ उल्लेख नहीं है, इंटरनेट की विविध वेबसाइट हैं।

पिटारा कार्ट

सिंगल क्लिक और आसान सर्च

एकलव्य की किताबें, पत्रिकाएँ, टी.एल.एम.,
शैक्षणिक सी.डी., चार्ट, पोस्टर एवं साइंस किट...
आपकी पहुँच में...

जल्द ही देश भर की संस्थाओं और प्रकाशकों की चुनिन्दा सामग्री भी

www.eklavya.in/pitara पर विज़िट कीजिए।
अपना अकाउंट बनाइए।
आसान खरीदारी और सुरक्षित भुगतान

विशेष ऑफर

पिटारा कार्ट द्वारा की गई ऑनलाइन खरीदी पर 100 रुपए की विशेष छूट।

एकलव्य
www.eklavya.in

63

भोजन की थाली से

शिक्षा के विविध उद्देश्यों में से एक यह भी है कि शिक्षा हमारे संवैधानिक उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन बनेगी और बच्चों में तार्किकता लाएगी। शिक्षा के ज़रिए यह तब सम्भव है जब हमारी पुस्तकें इस सोच को ध्यान में रखते हुए बनाई जाएँ और पुस्तकों को बच्चों तक ले जाने वाले शिक्षक इसके वाहक बनें। इसके लिए ज़रूरी है कि इन मूल्यों पर शिक्षकों और हमारे पाठ्यक्रम निर्माताओं की आस्था हो। ज़मीनी हकीकत इसके विपरीत ही दिखाई पड़ती है। बिना किसी तर्क के एक खास वर्ग की भोजन शैली को सही ठहराने और उसका वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश हावी है जिसके चलते एक दूसरा वर्ग खुद को सवालों के घेरे में पाता है। क्या ऐसे सम्भव है समावेशी शिक्षा?

नारीवाद और विज्ञान

विज्ञान के बड़े शिक्षण संस्थान हों या शोध संस्थान, वहाँ महिलाओं की मौजूदगी बहुत कमतर है। क्या ऐसा इसलिए है कि वे योग्य नहीं? वास्तव में ये संस्थान जेंडर-पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हैं। समस्या वहाँ के पुरुषवादी सांस्कृतिक परिवेश में है। दरअसल, यह सिर्फ महिला या पुरुष होने से कहीं आगे पुरुषवादीकरण है जो उस पूरे वातावरण और सोच में फैला हुआ है। यहाँ तक कि हमारा पाठ्यक्रम भी इससे अछूता नहीं। हम अपने विज्ञान शिक्षण में जो पढ़ाते हैं वह तो बस अन्तिम नतीजा ही होता है। वैज्ञानिक खोजें किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुईं इसके बारे में बात करने की परवाह हम कभी भी नहीं करते। कुछ जगहों पर परिदृश्य बदला है। इतिहास, दर्शन या समाज शास्त्र और नारीवाद को विज्ञान से जोड़कर देखने की कोशिशें शुरू हुई हैं। इससे लोगों की सोच पर कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है।

70

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-37 (मूल अंक-94), सितम्बर-अक्टूबर 2014

इस अंक में

4 | **आपने लिखा**

7 | **रदरफोर्ड मॉडल मुसीबत में - भाग 4**
सुशील जोशी

12 | **जेम्स बॉण्ड की दौड़ और स्नेल्स लॉ**
विवेक मेहता

25 | **मिथ्याकरण, क्रान्तियाँ और... - भाग 2**
रॉबिन डनबार

41 | **क्या समझ से पढ़ना बच्चों को... - भाग 2**
कीर्ति जयराम

54 | **सर! आपने तो अपना परिचय दिया ही नहीं**
केवलानन्द काण्डपाल

57 | **बोलचाल की भाषा और मुहावरे**
अनिल सिंह

63 | **भोजन की थाली से**
मोहम्मद उमर

70 | **नारीवाद और विज्ञान**
चयनिका शाह (साक्षात्कार - विवेक वेलांकी)

81 | **दुश्मन मेमना - भाग 2**
ओमा शर्मा

91 | **पूड़ी क्यों फूलती है?**
सवालीराम

आपने लिखा

कल शाम अपने कार्यालय से वापस आने के बाद मैंने अपने घरेलू पुस्तकालय से 'संदर्भ' के पुराने अंक-78 में कालू राम शर्माजी का लेख 'पौधों में मण्ड की जाँच' पढ़ा। पढ़ कर मज़ा आया और जानकारी भी बढ़ी। इस पूरे लेख में उन्होंने घटना का सिलसिलेवार ढंग से जो वर्णन दिया है वह प्रशंसनीय है। इस पूरे लेख में उन्होंने पौधों में मण्ड की जाँच हेतु जिस प्रक्रिया और धैर्य के साथ आश्रमशाला के फर्स्ट एड बॉक्स में रखे पायोडीन मल्हम के खोखे से आयोडीन का निष्कर्षण कर प्रयोग को किया, वह न केवल प्रेरणादायक है बल्कि सोचने के नए आयामों को भी खोलता है जो कि विज्ञान व विज्ञान शिक्षण की आत्मा है। उनका यह कार्य फर्स्ट एड बॉक्स के बारे में भी जानकारी देता है कि इसका उपयोग हम प्राथमिक उपचार के साथ-साथ विज्ञान शिक्षण हेतु विज्ञान किट के रूप में भी अंशतः कर सकते हैं।

अनानास कुमार,
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन,
धमतरी, छत्तीसगढ़

शैक्षणिक संदर्भ अंक-93 प्राप्त हुआ। इस अंक में धमतरी विकास खण्ड की प्राथमिक शाला, छाती की शिक्षिका श्रीमती छाया गोस्वामी की कक्षा का बेहतरीन अवलोकन श्रीदेवी ने 'खेल-खेल में व्याकरण' के रूप में प्रस्तुत करके इस संकुल के सभी शिक्षक साथियों को प्रोत्साहित किया है। इस महीने संकुल स्तर पर शिक्षक फोरम की बैठक में शिक्षिका छायाजी और उपस्थित सभी शिक्षक साथियों ने 'संदर्भ' के इस प्रयास को दिल से धन्यवाद दिया। मुझे सीखने को मिला कि अपना अनुभव जब किसी पत्र, पत्रिका या किसी और तरह से प्रिंट स्वरूप में आता है तो उसका महत्व कुछ और ही होता है जो संग्रहणीय हो जाता है। सभी ने अपने विद्यालय के पुस्तकालय में इस अंक को सहेज कर रखने की बात कही ताकि आवश्यकता होने पर उपयोग किया जा सके।

इसी अंक में कीर्ति जयराम का आलेख 'समझकर पढ़ना-सीखना' समसामयिक रहा। इस आलेख का महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि अभी कुछ दिन पहले सेवाकालीन प्रशिक्षण चल रहा था जहाँ बार-बार सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना जैसे प्रारम्भिक कौशलों के साथ समझ के महत्व को आधार बनाया गया था। इस सन्दर्भ में कीर्तिजी का आलेख बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ जिसकी मदद से सामूहिक चर्चा कर शिक्षक साथी अपनी समझ बनाने में सक्षम हो पा रहे थे और चर्चा में गुणात्मकता दिखती थी। इस प्रशिक्षण के शुरू के दिनों में कई शिक्षकों का सवाल था कि "बच्चे सीख नहीं पा रहे हैं" जिससे इस आलेख में भी मुखातिब होने की कोशिश की गई है। इसी आधार पर समझ बनती है कि पृष्ठभूमि, पढ़ना किसे कहते हैं, समझ के बारे में, समझ हासिल करने की कुछ आधारशिलाएँ जैसे कि अवधारणात्मक ज्ञान, भाषा कौशल, तेज़ी से शब्दों को पहचानना (डिकोडिंग की कुशल दक्षताएँ), पाठ की विशेषताओं को पहचानना आदि समझ के

साथ पढ़ने की प्रक्रिया में मददगार साबित होते हैं। निःसन्देह इनका सीधा सम्बन्ध शिक्षक साथियों से होता है। शिक्षक यह समझने की कोशिश करते हैं कि आखिर बच्चे किस तरह सीख रहे होते हैं। इस तरह की समझ एक आधार देती है जिसमें प्रिंट सामाग्री काफी मददगार होती है।

सच कहें तो 'शैक्षणिक संदर्भ' एक मार्ग-दर्शक की भाँति इन दिनों शिक्षक साथियों के लिए मददगर साबित हो रही है। इस प्रयास के लिए सभी बधाई के पात्र हैं।

नरेन्द्र साहू,
अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन,
धमतरी, छत्तीसगढ़

भूल सुधार

- अंक 93 में लेख 'नन्ही तितली को उड़ना कौन सिखाता है?' *के पृष्ठ 62 पर प्रकाशित चित्र मॉथ (पतंगा) का है न कि तितली का। और इस चित्र से सम्बन्धित बातें भी मॉथ के बारे में हैं।*

– सम्पादक मण्डल

सुतली और हुनर का मेल!

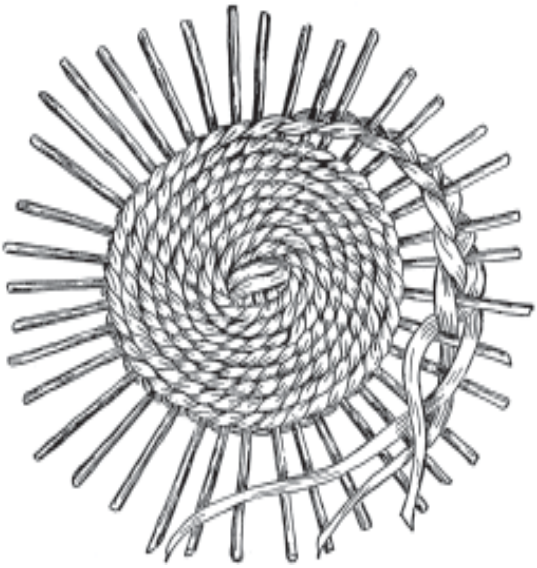

जैसे - **संदर्भ**

एक प्रति का मूल्य 30 रुपए
एक साल की सदस्यता 150 रुपए
तीन साल की सदस्यता 400 रुपए

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें

एकलव्य
ई-10, बी.डी.ए. कॉलोनी, शंकर नगर,
शिवाजी नगर, भोपाल, म.प्र. पिन 462016
फोनः 0755 - 2671017, 2550976
www.eklavya.in/sandarbh
ई-मेलः sandarbh@eklavya.in

भाग-4

रदरफोर्ड मॉडल मुसीबत में

सुशील जोशी

यह सही है कि रदरफोर्ड मॉडल परमाणु और अल्फा कणों की परस्पर क्रिया की भलीभाँति व्याख्या कर देता है और गणितीय रूप से सारे अवलोकनों की सूक्ष्म व्याख्या भी पेश करता है। मगर इसमें कुछ गम्भीर दिक्कतें हैं।

कुछ आपत्तियाँ

यदि धनावेश केन्द्रक में समाया है और ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन उसके आसपास स्थिर अवस्था में टिके हैं तो विपरीत आवेशों के बीच आकर्षण के चलते इलेक्ट्रॉनों को आकर्षित होकर केन्द्रक में गिर जाना चाहिए। मगर ऐसा होता नहीं है। परमाणु काफी टिकाऊ होते हैं। तो रदरफोर्ड मॉडल को लेकर पहली आपत्ति तो यही थी कि परमाणु जल्दी ही अन्दर धँस क्यों नहीं जाता।

इस आपत्ति को कुछ हद तक इलेक्ट्रॉन को परिक्रमा करवाकर निपटाने की कोशिश हुई। जब कोई कण परिक्रमा करता है तो उस पर एक अपकेन्द्री बल लगेगा और यह कहा गया कि धनावेशित केन्द्रक के चक्कर काटते इलेक्ट्रॉन पर लगने वाला अपकेन्द्री बल धनावेश के आकर्षण को सन्तुलित कर देता है और वे अपनी कक्षा में बने रहते हैं। तो रदरफोर्ड मॉडल यह बना कि केन्द्र में छोटा-सा धनावेशित केन्द्रक है और इलेक्ट्रॉन कुछ दूरी पर उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। थोड़ा-थोड़ा सौर

रदरफोर्ड का परमाणु मॉडलः सोने के महीन पतरे के साथ किए प्रयोग के बाद रदरफोर्ड ने सुझाया कि केन्द्र में धनावेश है और ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन कुछ दूरी पर स्थिर हैं।
जैसे-जैसे समझ बढ़ी, यह मॉडल कई आपत्तियों की व्याख्या करने में सफल नहीं हो रहा था, इसलिए इसमें संशोधन ज़रूरी थे।

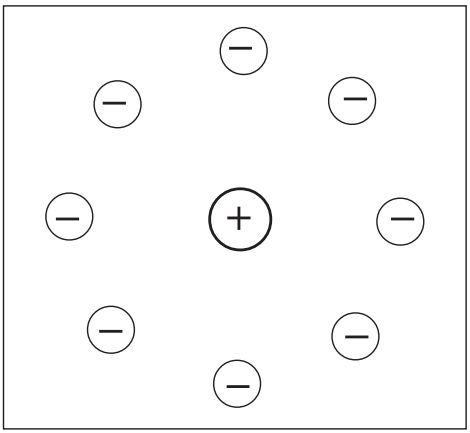

परमाणु मॉडलः रदरफोर्ड मॉडल पर उठाई कुछ आपत्तियों के बाद इसमें कुछ संशोधन किए गए। इनके मुताबिक इलेक्ट्रॉन धनावेशित केन्द्रक का चक्कर लगा रहे हैं। यह संशोधन कुछ सम्भल पाता तब तक प्रकाशिकी में हो रहे शोध से पता चला कि चक्कर लगा रहे इलेक्ट्रॉन विकिरण उत्सर्जित करेंगे। परिणाम स्वरूप इलेक्ट्रॉन की कक्षा छोटी होती जाएगी और वह केन्द्रक में समा जाएगा।

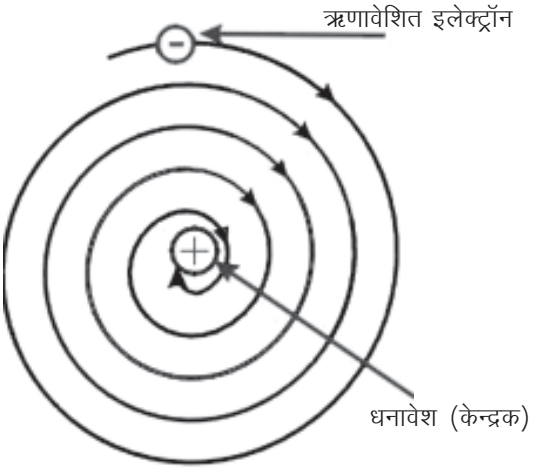

मण्डल जैसे दिख रहा है ना?

मगर यह भी दिक्कतों में फँस गया। इस बार जो दिक्कतें आईं वे प्रकाश के अध्ययन से आई थीं।

यह 1911 की बात है। उस समय तक यह पता चल चुका था कि यदि इलेक्ट्रॉन केन्द्रक का चक्कर लगा रहे हैं, तो उनमें एक त्वरण होगा और जब त्वरण होगा तो वे विकिरण उत्सर्जित करेंगे और उनकी ऊर्जा लगातार कम होती जाएगी। परमाणु यह विकिरण विद्युत-चुम्बकीय विकिरण के रूप में उत्सर्जित करते हैं। ऐसा होने पर उनकी परिक्रमा कक्षा लगातार सिकुड़ती जाएगी और थोड़ी ही देर में वे केन्द्रक में समा जाएँगे। तो यह परिक्रमा करते इलेक्ट्रॉन वाला मॉडल भी अस्थिर साबित होगा।

एक तीसरी समस्या भी थी। दरअसल, इसी तीसरी समस्या को सुलझाते-सुलझाते नील्स बोर परमाणु के अगले मॉडल पर पहुँचे थे। तो इस तीसरी समस्या को थोड़ा विस्तार में समझने की कोशिश करते हैं।

उस समय तक प्रकाश के वर्णक्रम का काफी अध्ययन होने लगा था। यह पाया गया था कि प्रत्येक पदार्थ का एक सुनिश्चित व अनूठा वर्णक्रम होता है। बुंसन ने अपने प्रयोगों से पदार्थों के वर्णक्रम का बढ़िया अध्ययन किया था। उन्होंने वर्णक्रम विश्लेषण के आधार पर नए तत्वों - रुबिडियम और सीज़ियम - की खोज भी कर ली थी। सूर्य के वर्णक्रम के अध्ययन के आधार पर वहाँ हीलियम की उपस्थिति का पता चल चुका था। यह सिद्धान्त विकसित हुआ था कि हरेक तत्व का वर्णक्रम उसके इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित विकिरण का परिणाम होता है।

यदि रदरफोर्ड का मॉडल सही है तो क्या होगा?

उत्सर्जन वर्णक्रम

रदरफोर्ड मॉडल के इलेक्ट्रॉन तो परिक्रमा कर रहे हैं और धीरे-धीरे सतत ढंग से उनके परिक्रमा पथ छोटे होते जा रहे हैं। यानी यह ऊर्जा विद्युत-चुम्बकीय विकिरण के रूप में उत्सर्जित होनी चाहिए। यदि परिक्रमा पथ का सिकुड़ना एक सतत प्रक्रिया है तो हर तरंग लम्बाई का प्रकाश निकलना चाहिए और तरंग लम्बाई लगातार कम होती जानी चाहिए।

मगर वर्णक्रम की वास्तविकता ऐसी नहीं थी। यदि किसी तत्व द्वारा उत्सर्जित प्रकाश के वर्णक्रम को देखें तो उसमें हर तरंग लम्बाई का प्रकाश नहीं होता। प्रत्येक तत्व जो वर्णक्रम देता है वह सतत नहीं बल्कि डिस्क्रीट (यानी असतत) होता है। इसका अर्थ है कि किसी भी तत्व के वर्णक्रम में कुछ तरंग लम्बाइयों का प्रकाश अनुपस्थित होता है जबकि कुछ तरंग लम्बाइयों का प्रकाश ज़्यादा होता है।

जैसे यदि किसी धातु अथवा उसके किसी यौगिक को बुंसन बर्नर की लौ में तपाएँ तो उसमें से किसी विशिष्ट रंग का प्रकाश निकलता है। मशहूर लौ परीक्षण (फ्लेम टेस्ट) इसी तथ्य पर टिका है। जैसे यदि सोडियम के किसी लवण को लौ में तपाएँ और उससे निकलने वाले प्रकाश के मार्ग में एक प्रिज़्म रखकर उसका विच्छेदन करें तो आपको एक विशिष्ट वर्णक्रम मिलेगा।

इस तरह के वर्णक्रम को परमाणु वर्णक्रम कहते हैं। इसके विस्तृत अध्ययन का काम सर्वप्रथम जे.जे. बामर (1825-

रदरफोर्ड साथी वैज्ञानिक के साथ प्रयोगशाला में

ज्वाला परीक्षण: किसी धातु अथवा उसके किसी यौगिक को बुंसन बर्नर की लौ में तपाएँ तो उसमें से किसी विशिष्ट रंग का प्रकाश निकलता है। यहाँ तांबे का ज्वाला परीक्षण किया जा रहा है।

1898) ने किया था। उन्होंने कम दबाव पर हाइड्रोजन से उत्सर्जित प्रकाश के वर्णक्रम पर ध्यान दिया। उन्होंने पाया कि हाइड्रोजन के वर्णक्रम में जो तरंग लम्बाइयाँ उपस्थित हैं उन्हें एक समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसके साथ ही रॉबर्ट राइडबर्ग ने भी पाया कि उत्सर्जित तरंग संख्याओं (वेव नम्बर यानी एक इकाई दूरी में कितनी तरंगें हैं) को एक समीकरण में बाँधा जा सकता है।

$$\sigma = 1/\lambda = R\{(1/n_i^2) - (1/n_j^2)\} cm^{-1}$$

इस समीकरण में σ तरंग संख्या और λ तरंग लम्बाई है जबकि n_i और n_j कोई भी दो पूर्णांक संख्याएँ हैं और R एक स्थिरांक है जो किसी गैस के लिए निश्चित होता है।

है ना, मज़ेदार बात। परमाणु वर्णक्रम एक पेचीदा पैटर्न होता है। जब किसी गैस को अत्यन्त कम दबाव पर एक नली में बन्द करके उच्च वोल्टेज लगाया जाए तो उसमें से प्रकाश उत्सर्जित होता है। इस प्रकाश को प्रिज़्म से विच्छेदित किया जाए तो वह विभिन्न तरंग लम्बाइयों पर रेखाओं के एक क्रम के रूप में नज़र आता है। रोचक बात यह है कि इन रेखाओं की तरंग लम्बाई को दो पूर्णांक संख्याओं से बने समीकरण की मदद से व्यक्त किया जा सकता है।

जब भी ऐसा सरल समीकरण नज़र आए जो अवलोकनों का सटीक विवरण प्रस्तुत करने में सक्षम हो, तो यह विचार ज़रूर उभरता है कि यह समीकरण यथार्थ के किसी पहलू को व्यक्त कर रहा है।

इसी समय भौतिकी के क्षेत्र में एक और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। दरअसल, किसी ठोस पदार्थ को गर्म

हाइड्रोजन का उत्सर्जन स्पेक्ट्रम

करने पर जो प्रकाश निकलता है उसके वर्णक्रम में जिन तरंग लम्बाइयों का प्रकाश नज़र आता था, उसकी तीव्रता को लेकर कुछ दिक्कतें उभरी थीं। दिक्कत यह थी विद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त से जिस तीव्रता की भविष्यवाणी की जाती थी, वह वास्तविक अवलोकनों से मेल नहीं खाती थी।

प्लांक की परिकल्पना

इस समस्या को सुलझाने के प्रयास में एक भौतिक शास्त्री मैक्स प्लांक ने एक परिकल्पना प्रस्तुत की थी जिसने उस ज़माने के भौतिक शास्त्रियों को चकरा दिया था और कोई भी प्लांक की बात सुनने को तैयार न था। मगर प्लांक ने जो परिकल्पना प्रस्तुत की थी वह जल्दी ही यथार्थ के हमारे चित्र में आमूल बदलाव करने वाली थी। यह परिकल्पना थी क्वांटम परिकल्पना। परिकल्पना का लब्बोलुआब यह था कि पदार्थ की तरह ऊर्जा भी निश्चित कतरों में ही पाई जाती है। इसका एक मतलब यह था कि किसी परमाणु में से ऊर्जा का विकिरण कुछ निश्चित मात्राओं में ही हो सकता है।

$$\varepsilon = nh\nu$$

यहाँ ε ऊर्जा, n कोई भी पूर्णांक संख्या, h एक स्थिरांक है और ν विकिरण की आवृत्ति है।

उस समय एक और मामला प्रकाश-विद्युत प्रभाव का सामने आया था। कुछ पदार्थों पर प्रकाश डालने पर उनमें से इलेक्ट्रॉन उत्सर्जित होता है। मज़ेदार बात यह थी कि इलेक्ट्रॉन तभी उत्सर्जित होता था जब प्रकाश की आवृत्ति एक निश्चित ऊर्जा की होती थी। इससे कम ऊर्जा वाला प्रकाश चाहे कितनी भी मात्रा में दिया जाए, इलेक्ट्रॉन उत्सर्जन नहीं होता था। आइंस्टाइन ने इसका कारण क्वांटम परिकल्पना के आधार पर ही दिया था।

धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा था कि क्वांटम परिकल्पना शायद परमाणविक जगत का एक सामान्य सिद्धान्त है।

रदरफोर्ड के परमाणु मॉडल की दिक्कतों का समाधान तभी निकला जब क्वांटम सिद्धान्त को उनके मॉडल पर लागू किया गया। और यह काम किया था नील्स बोर ने।

सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

जेम्स बॉण्ड की दौड़ और स्नेल्स लॉ

विवेक मेहता

इस लेख का शीर्षक देखकर आश्चर्य में पड़ गए न कि कहाँ जेम्स बॉण्ड की दौड़ और कहाँ स्नेल्स लॉ! पर यकीन जानिए इनका आपस में सम्बन्ध है और इस लेख में हम इसी सम्बन्ध को उजागर करने की कोशिश करेंगे। तो आइए शुरुआत करते हैं...

जेम्स बॉण्ड दौड़ पड़ा दुनिया बचाने

आपने शायद कभी जेम्स बॉण्ड की कोई फिल्म देखी हो। अक्सर ही उन फिल्मों में बॉण्ड खतरे में पड़ी दुनिया को बचाता हुआ पाया जाता है। चलिए एक ऐसी ही स्थिति पर विचार करते हैं जहाँ दुनिया खतरे में है और उसे बचाने का ज़िम्मा जेम्स बॉण्ड के कन्धों पर आ पड़ा है क्योंकि बाकि सारे सुपर-हीरो डर कर कहीं भाग गए हैं। किसके डर से, उसके बारे में आगे। आइए देखें कि इस बार दुनिया किस खतरे में पड़ी है। दुनिया के दुश्मनों ने एक समुद्री टापू

पर एक बहुत ही खतरनाक बम चालू कर के रख छोड़ा है जोकि ठीक 74 सेकण्ड बाद फटने वाला है। जेम्स बॉण्ड को उस टापू पर पहुँचकर बम को डीएक्टीवेट यानी निष्क्रिय करना है। बॉण्ड के सापेक्ष टापू की स्थिति चित्र-1 में दिखाई गई है।

बॉण्ड तट की रेतीली ज़मीन पर 5 मीटर प्रति सेकण्ड (m/s) की रफ्तार से दौड़ सकता है, समुद्र में 2 मीटर प्रति सेकण्ड की गति से तैर सकता है और एक बम को निष्क्रिय करने में उसे 30 सेकण्ड लगते हैं। ऐसी स्थिति में क्या बॉण्ड के लिए दुनिया को बचाना सम्भव होगा? अगर इस लेख को पढ़ने की पूरी कीमत वसूलना चाहते हैं तो पहले कागज़-कलम लेकर थोड़ी कोशिश कीजिए इस सवाल को हल करने की और फिर आगे बढ़िए।

अगर आपने सवाल को हल करने की दिमागी या कागज़ी या दोनों ही कोशिशें की होंगी तो आप देखेंगे कि बॉण्ड के पास कुल समय है 74 सेकण्ड जिसमें से 30 सेकण्ड तो बम को निष्क्रिय करने में ही निकल जाएँगे, तो शेष बचे 44 सेकण्ड में उसे तट से टापू पर रखे बम तक पहुँचना होगा। अगर हम तट से टापू तक पहुँचने के समय को 'T' से दर्शाएँ तो गणितीय तरीके से कह सकते हैं कि दुनिया को बचाने के लिए ज़रूरी है कि $T \leq 44$ s, और फिल्मी अन्दाज़ में, अगर बॉण्ड टापू तक पहुँचने में 44 सेकण्ड से ज़्यादा समय लगाएगा तो दुनिया को बचाना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन होगा।

टापू तक पहुँचने में लगने वाले समय की अधिकतम सीमा निकाल लेने के बाद आइए इस सवाल पर गौर करें कि बॉण्ड के पास टापू तक पहुँचने के कौन-कौन से विकल्प हैं।

विकल्प-1

पहला विकल्प जो चित्र-1 में दिखाई देता है कि बॉण्ड बिन्दु A से शुरू करके तैरते हुए सीधा टापू यानी कि बिन्दु C तक चला जाए। अन्य सब रास्ते दूरी के मामले में इस रास्ते से लम्बे होंगे। आइए देखें कि इस रास्ते से टापू तक पहुँचने में कितना समय लगेगा।

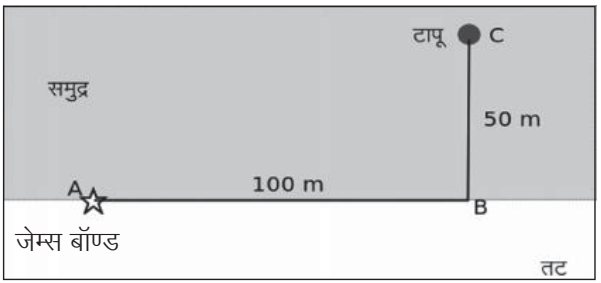

चित्र-1: जेम्स बॉण्ड और टापू के बीच की दूरी।

दो बिन्दुओं के बीच सीधी दूरी तय करने में लगने वाले समय को निकालने

के लिए हमें दूरी को रफ्तार से विभाजित करना होगा। बिन्दु A व C को जोड़ने वाली सीधी रेखा समकोण त्रिभुज ABC का कर्ण है, जिसकी लम्बाई हम पायथागोरस के नियम से निकाल सकते हैं। इसके मुताबिक,

$$AC^2 = AB^2 + BC^2$$

$$= 100^2 + 50^2 = 12500 \qquad \text{होगा और,}$$

$$AC = 111.8 \text{ m}$$

जैसा कि पहले सवाल के विवरण में बताया गया है, इस दूरी को बॉण्ड 2 m/s की गति से तैरकर पार कर सकता है। अगर इस दूरी को तय करने में लगने वाले समय को 'T_{AC}' से दर्शाएँ तो,

$$T = T_{AC} = \frac{111.8}{2} = 55.9 \text{ s}$$

सबसे कम दूरी का रास्ता होने के बावजूद इस रास्ते पर चलकर बॉण्ड दुनिया को तबाही से नहीं बचा सकता क्योंकि इसे तय करने में लगने वाला समय 44 सेकण्ड से कहीं ज़्यादा है।

विकल्प-2

एक दूसरा विकल्प जो बॉण्ड के पास है, वो यह कि बॉण्ड पहले बिन्दु A से बिन्दु B तक दौड़ कर जाए और फिर बिन्दु B से बिन्दु C तक तैर कर जाए। इस सूरत में बिन्दु A से बिन्दु C तक पहुँचने में लगने वाला कुल समय होगा,

$$T = T_{AB} + T_{BC}$$

$$= \frac{100}{5} + \frac{50}{2}$$

$$= 20 + 25 = 45 \text{ s}$$

काफी करीब, सिर्फ एक सेकण्ड देर से, लेकिन दुनिया तबाह। तो यह विकल्प भी किसी काम का नहीं। पर एक बात जो गौर करने वाली है कि इसमें लगने वाला समय विकल्प-1 की तुलना में कम है।

विकल्प-3

पिछले दो विकल्पों से तो बात बनी नहीं तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि दुनिया को बचाना सम्भव नहीं? क्या कोई और तरीका है जिसका इस्तेमाल बॉण्ड कर सकता है? आइये देखते हैं। मान लीजिए कि बॉण्ड बिन्दु A से दौड़ना शुरू करे लेकिन बिन्दु B से पहले ही अपनी दौड़ खत्म करके बिन्दु C की तरफ तैरना शुरू कर दे, चित्र-2 में दिखाए अनुसार।

यानी बॉण्ड बिन्दु A से शुरू करके बिन्दु B′ तक x मीटर दौड़ने के बाद तैरना शुरू कर देगा। अब सवाल ये उठता है कि x कितना हो कि बॉण्ड दुनिया को बचा पाए? पर इस सुझाव पर अमल करने से पहले आइए ये देख लें कि किसी भी x के लिए बॉण्ड को टापू तक पहुँचने में कितना समय लगेगा। ये समय होगा,

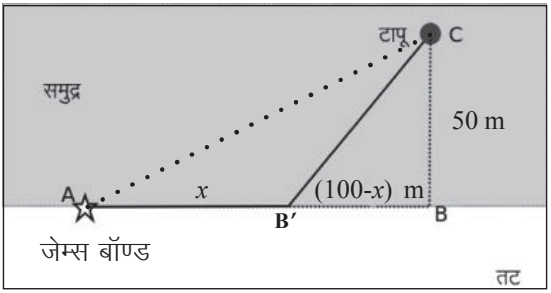

चित्र-2: तीसरा विकल्प

$$T = T_{AB'} + T_{B'C} = \frac{AB'}{5} + \frac{B'C}{2}$$

$$= \frac{x}{5} + \frac{\sqrt{50^2 + (100 - x)^2}}{2} \text{ s}$$

इस फॉर्मूले में हम अलग-अलग x दूरी के लिए टापू तक लगने वाले समय को निकाल सकते हैं। हमने x के कुछ मान के लिए लगने वाले समय को नीचे दी गई तालिका में दर्शाया है।

x (m)	0	20	40	60	*80*	100
T (s)	55.90	51.56	47.05	44.01	***42.92***	45.00

अहा! इस टेबल को देखकर हम-आप चैन की साँस ले सकते हैं क्योंकि एक स्थिति में टापू तक पहुँचने का समय 44 सेकण्ड से कम है। यानी कि अगर बॉण्ड तट पर 80 मीटर दौड़ने के बाद तैरना शुरू कर दे तो दुनिया को बचाया जा सकता है। पर यह तो हमारा तुक्का लग गया, अगर हमने 80 मीटर के लिए टापू तक पहुँचने का समय नहीं निकाला होता तो क्या हम यह कहते कि दुनिया को बचाना सम्भव नहीं? कुछ तो पक्का गणितीय तरीका होगा पूरे यकीन के साथ कह पाने का कि दुनिया को बचाना सम्भव है या नहीं। आगे की चर्चा उसी पर।

तुक्केबाज़ी नहीं पक्केबाज़ी

तीसरे विकल्प की जाँच करते हुए हमने देखा कि,

$$T = \frac{x}{5} + \frac{\sqrt{50^2 + (100 - x)^2}}{2} \qquad \text{(E-1)}$$

इस समीकरण को कुछ सरल करके इस तरह भी लिखा जा सकता है,

$$\left(T - \frac{x}{5}\right)^2 = \frac{50^2 + (100 - x)^2}{4}$$

या कुछ और सरल करके,

$$21x^2 - (5000 - 40T)x + 312500 - 100T^2 = 0 \qquad \text{(E-2)}$$

साफ तौर पर यह चर राशि यानी वेरियबल x में एक द्विघाती समीकरण (quadratic equation) है। अगर इस समीकरण में हम T का कोई मान रखें तो इसे x के लिए हल किया जा सकता है। मतलब कि हम यह जान सकते हैं कि अगर बॉण्ड T सेकण्ड में टापू तक पहुँचना चाहे तो उसे तट पर कितनी दूर तक दौड़ना होगा। तो आइए सबसे पहले समीकरण (E-2) से $T = 44$ सेकण्ड के लिए x कितना होगा, ये निकालें।

समीकरण (E-2) में $T = 44$ सेकण्ड रखने पर चर राशि x में मिलने वाला समीकरण होगा,

$$21x^2 - 3240x + 118900 = 0 \qquad \text{(E-3)}$$

इसके लिए डिस्क्रिमिनेंट (B^2-4AC) होगा,

$$(3240^2 - 4 \times 21 \times 118900) = 510000$$

जोकि शून्य से बड़ा है। इस स्थिति में समीकरण (E-3) के दोनों हल वास्तविक होंगे $x_1 = 60.13$ और $x_2 = 94.14$ (देखें बॉक्स 1)।

अरे वाह! कहाँ अभी कुछ देर पहले तक तो हम यह सोच रहे थे कि दुनिया को बचाने का एक भी रास्ता है या नहीं, और यहाँ तो दो-दो रास्ते निकल आए और वो भी पक्के गणितीय तरीके से। अब तो बॉण्ड दुनिया को बचा ही लेगा। लेकिन एक सवाल और जो ज़हन में आता है कि क्या केवल ये दो ही तरीके हैं, या और भी विकल्प हैं जिनसे दुनिया को बचाया जा सकता है? इस सवाल पर थोड़ी देर में। उससे पहले आइए एक उदाहरण देख लें जिसमें एक दिए गए समय में दुनिया को बचाना बॉण्ड के लिए सम्भव नहीं होता।

बॉक्स 1

द्विघाती समीकरण के हल

किसी भी क्वाड्रैटिक यानी द्विघाती समीकरण को नीचे दिए गए तरीके से लिखा जा सकता है।

$$Ax^2 + Bx + C = 0$$

जब हम किसी समीकरण को हल करने या उसके रूट्स (हल) की बात करते हैं तो हमारा मतलब समीकरण के वेरियबल यानी कि चर राशि (इस सन्दर्भ में x) के उन मानों को जानने से होता है जिसके लिए समीकरण का बायाँ भाग शून्य के बराबर हो।

हम जानते हैं कि इस द्विघाती समीकरण के दो हल हो सकते हैं – x_1 और x_2 इनके मान होते हैं,

$$x_1 = \frac{-B + \sqrt{B^2 - 4AC}}{2A} \qquad x_2 = \frac{-B - \sqrt{B^2 - 4AC}}{2A}$$

अगर हमें A, B या C के मान न भी पता हों तब भी हम $\left(B^2 - 4AC\right)$ (डिस्क्रिमिनैंट या विविक्तकर) के आधार पर एक द्विघाती समीकरण के दोनों हल की गुणात्मक समझ बना सकते हैं। इसके मुताबिक,

$\left(B^2 - 4AC\right) > 0$ हो तो दोनों हल वास्तविक लेकिन अलग-अलग होंगे।

$\left(B^2 - 4AC\right) = 0$ हो तो दोनों हल वास्तविक होंगे और दोनों का ही मान $\frac{-B}{2A}$ के बराबर होगा।

$\left(B^2 - 4AC\right) < 0$ हो तो दोनों हल कॉम्पलैक्स (समिश्र) होंगे।

$$Ax^2 + Bx + C = 0$$

हम जानते हैं कि कॉम्पलैक्स संख्याओं के दो हिस्से होते हैं – एक रीयल (वास्तविक) और दूसरा इमैजिनरी (काल्पनिक)। अब अगर किसी द्विघाती समीकरण के हल काल्पनिक हों तो इसका मतलब हुआ कि x के किसी भी वास्तविक मान के लिए सम्भव नहीं होगा।

मान लीजिए कि हमारे शुरुआती सवाल में बॉण्ड के पास कुल समय 74 सेकण्ड की जगह 72 सेकण्ड होता। ऐसी स्थिति में बॉण्ड के पास 42 सेकण्ड का समय होता टापू तक पहुँचने के लिए। आइए देखते हैं कि क्या बॉण्ड के लिए सम्भव होता इतने समय में टापू तक पहुँचना। समीकरण (E-2) में $T = 42$ सेकण्ड रखने पर हमें जो द्विघाती समीकरण मिलेगी वो होगी,

$$21x^2 - 3320x + 136100 = 0 \qquad \text{(E-4)}$$

इस समीकरण के लिए डिस्क्रिमिनेंट (B^2-4AC),

$$\left(3320^2 - 4 \times 21 \times 136100\right) = -410000$$

होगा जोकि शून्य से छोटा है। जिसका मतलब हुआ कि समीकरण (E-4) के दोनों रूट्स यानी हल काल्पनिक होंगे जिसका हमारे सवाल के सन्दर्भ में मतलब हुआ कि बॉण्ड केवल कल्पना में ही टापू तक पहुँच सकता है, हकीकत में नहीं।

दुनिया को बचाने के कितने रास्ते?

हमने देखा कि बॉण्ड दो तरीकों से टापू तक 44 सेकण्ड में पहुँच सकता है। अब सवालों की कड़ी आगे बढ़ाएँ-

- कि क्या टापू तक 44 सेकण्ड से कम समय में पहुँचा जा सकता है? और,
- टापू तक पहुँचने में लगने वाला कम-से-कम समय कितना होगा?

इन सवालों के जवाब के लिए हम ग्राफ का सहारा लेंगे (पर यही एक तरीका है ऐसा करने का, ये बात कतई नहीं)। चित्र-3 में हमने समीकरण (E-1) यानी,

$$T = \frac{x}{5} + \frac{\sqrt{50^2 + (100 - x)^2}}{2}$$

के लिए ग्राफ बनाया है। बॉण्ड के द्वारा तट पर दौड़कर तय की गई दूरी व टापू तक पहुँचने में लगने वाले समय के बीच के सम्बन्ध को दर्शाता यह ग्राफ ऊपर उठाए गए सवालों के जवाब ढूँढ़ने में हमारी मदद कर सकता है।

अगर इस ग्राफ में हम x-अक्ष के समानान्तर एक रेखा खींचें तो यह रेखा एक समय विशेष T को दर्शाएगी व जिन बिन्दुओं पर वह रेखा ग्राफ को काटेगी उन बिन्दुओं के लिए x का मान हमें यह बतलाएगा कि उस समय-विशेष में

टापू तक पहुँचने के लिए x का मान क्या होगा। साफ तौर पर यह समीकरण हल करने का ग्राफ-आधारित तरीका हुआ। उदाहरण के तौर पर $T = 44$ सेकण्ड के लिए x अक्ष के समानान्तर खींची गई रेखा ग्राफ को दो बिन्दुओं पर काटती है। गौर कीजिए कि इन बिन्दुओं के लिए x के वे मान हैं जो हमने बॉक्स-1 के फॉर्मूलों से निकाले थे। वहीं दूसरी ओर $T = 42$ सेकण्ड के लिए खींची गई रेखा ग्राफ को किसी भी बिन्दु पर नहीं काटती जिसके चलते हम x का कोई वास्तविक मान नहीं निकाल सकते।

अब आते हैं हमारे उन दोनों सवालों पर जिनमें पहला सवाल है कि क्या टापू तक 44 सेकण्ड से कम समय में पहुँचा जा सकता है, और इसका जवाब है - हाँ। अगर बॉण्ड के द्वारा तट पर दौड़कर तय की गई दूरी 60.13 मीटर व 94.14 मीटर के बीच में हो तो टापू तक पहुँचने में लगने वाला समय 44 सेकण्ड से कम होगा। गणित की भाषा में लिखें तो, अगर $60.14 < x < 94.14$ तो $T < 44$ सेकण्ड। ग्राफ को देखकर यह जवाब आसानी से समझा जा सकता है। हम देख सकते हैं कि ग्राफ में $x = 60.14$ मीटर व $x = 90.13$ मीटर के बीच के किसी भी x के लिए लगने वाला समय 44 सेकण्ड से कम है। अब इन दो के बीच तो बॉण्ड x के अनगिनत मान चुन सकता है। तो इसका मतलब हुआ कि बॉण्ड के पास दुनिया को बचाने के एक नहीं, दो नहीं बल्कि अनगिनत रास्ते हैं।

अब आते हैं दूसरे सवाल पर कि इन अनगिनत रास्तों में से वो रास्ता कौन-सा होगा जिस पर दौड़कर (व तैरकर) बॉण्ड सबसे कम समय में टापू तक पहुँच सकता है। इस सवाल का जवाब भी ग्राफ में आसानी से देखा जा सकता है। अगर आप गौर करें तो पाएँगे कि x अक्ष के समानान्तर खींची गई एक रेखा को छोड़कर बाकि सभी रेखाएँ या तो ग्राफ को दो बिन्दुओं पर काटती हैं या एक भी बिन्दु पर नहीं काटतीं। इन दोनों तरह की रेखाओं के एक-एक उदाहरण हम देख चुके हैं। अब जो एक रेखा बचती है वो बहुत खास है। $T = 42.91$ सेकण्ड के लिए खींची गई यह रेखा खास इसलिए है क्योंकि यह ग्राफ की एक ऐसी स्पर्श-रेखा (tangent) है जिसकी ढलान (slope) शून्य है। एक दूसरी बात जो इस रेखा को इस प्रश्न से जुड़े ग्राफ के सन्दर्भ में खास बनाती है वो ये कि यह रेखा ग्राफ को दो हिस्सों में बाँटती है;

- ऊपरी हिस्सा जिसमें आने वाले किसी समय के मान के लिए हम द्विघाती समीकरण का हल निकालें तो हमें दो अलग-अलग वास्तविक हल मिलेंगे, यानी कि उसके लिए $(B^2 - 4AC) > 0$ होगा,
- निचला हिस्सा जिसमें आने वाले किसी भी समय के मान के लिए $(B^2 - 4AC) < 0$ होगा यानी कि हल काल्पनिक होंगे।

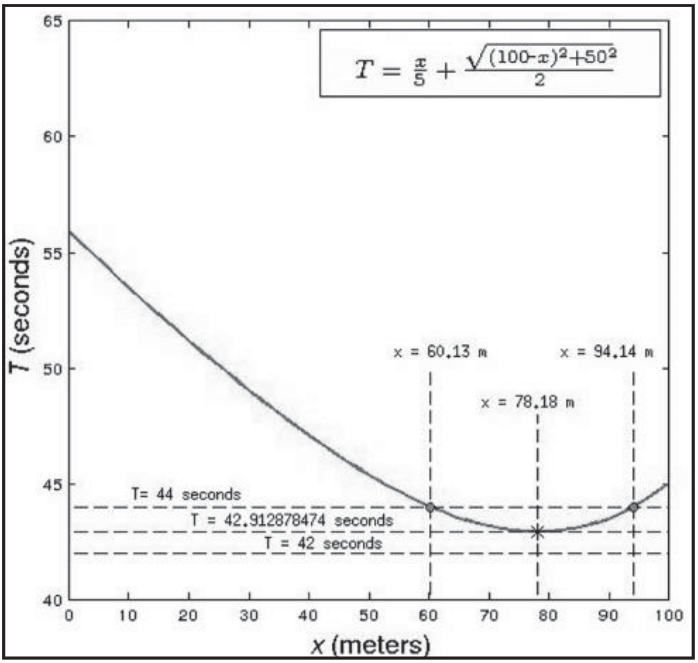

चित्र-3: बॉण्ड के द्वारा तट पर दौड़कर तय की गई दूरी x व टापू तक पहुँचने में लगने वाले समय T के बीच के सम्बन्ध को दर्शाता ग्राफ।

अब सवाल यह उठता है कि अगर इस रेखा के ऊपर डिस्क्रिमिनेंट शून्य से बड़ा और नीचे शून्य से छोटा है तो इस रेखा पर यानी कि $T = 42.912878474$ सेकण्ड के लिए ये कितना होगा। समीकरण (E-2) में इतने सेकण्ड रखने पर हमें जो समीकरण मिलेगा उसके लिए डिस्क्रिमिनेंट शून्य के बराबर होगा यानी कि $(B^2 - 4AC) = 0$. अब ऐसी हालत में समीकरण के दोनों हल बराबर होंगे और उनका मान होगा $x_1 = x_2 = 78.18$ मीटर। यानी कि अगर बॉण्ड तट पर 78.18 मीटर दौड़कर तैरना शुरू करे तो वह $T \approx 42.91$ सेकण्ड में टापू तक पहुँच जाएगा। क्या बॉण्ड इससे कम समय में टापू तक पहुँच सकता है? नहीं, क्योंकि जैसा कि हमने पहले देखा इससे कम समय के लिए समीकरण के हल काल्पनिक होंगे।

तो हमने देखा कि ग्राफ की यह स्पर्श-रेखा जिसकी ढलान शून्य है, x के उस मान को दर्शाती है जिसके लिए टापू तक पहुँचने का समय सबसे कम है। यानी कि अगर हम समीकरण (E-1) से $\frac{dT}{dx}$ (जो कि ग्राफ की ढलान को

दर्शाता है) निकालकर, उसे शून्य के बराबर रखकर x के लिए हल करते तो हमें सीधे ही x का वो मान मिल जाता जिसके लिए टापू तक पहुँचने का समय सबसे कम होता।

वाह! ये हुई ना बात। हम अब न केवल ये बता सकते हैं कि एक दिए गए समय में बॉण्ड टापू तक पहुँचकर दुनिया को बचा सकता है या नहीं, बल्कि यह भी कि टापू तक कम-से-कम कितने समय में पहुँचा जा सकता है। और वो भी पक्के गणितीय तरीके से।

जेम्स बॉण्ड की दौड़ पर तो ढेर सारी बातें हो गईं। आइए अब कुछ बात-चीत उस नियम पर भी हो जाए जिसे हम सब स्नेल्स लॉ के नाम से जानते हैं।

स्नेल्स लॉ

आप सभी ने शायद यह प्रयोग किया होगा या देखा होगा कि अगर पानी से भरी एक बाल्टी में एक लम्बी एकदम सीधी छड़ या लकड़ी डालकर देखें तो पानी की सतह से वो छड़ टेढ़ी दिखलाई देती है (चित्र-4 की तरह)। वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया को प्रकाश का अपवर्तन (refraction) नाम दिया। उन्होंने पाया कि ऐसा सिर्फ पानी के साथ ही नहीं होता। जब भी प्रकाश किरणें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती हैं तब ऐसा ही होता है। इतना जानने के बाद अब जो सवाल सामने थे, वो ये थे कि:

चित्र-4: प्रकाश का अपवर्तन

- प्रकाश की किरणें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करने पर क्यों मुड़ती हैं?
- प्रकाश की किरणें कितना मुड़ती हैं? और,
- उनका मुड़ना किन बातों पर निर्भर करता है?

बहुत-से वैज्ञानिक इन सवालों के जवाब ढूँढ़ने व इनसे जुड़े नियम निकालने की कोशिश कर रहे थे। पर सफलता मिली हॉलैंड के भौतिकी वैज्ञानिक विलब्रोर्ड स्नेल को जिन्होंने 1621 के आस-पास प्रकाश के अपवर्तन से जुड़े अपने प्रयोगों के दौरान यह नियम खोज निकाला[1]। उनके इस नियम को समझने के लिए हम चित्र-5 की मदद लेंगे।

चित्र-5 में एक प्रकाश किरण माध्यम-1 से माध्यम-2 में जा रही है। स्नेल

ने अपने प्रयोगों के दौरान पाया कि जब भी ऐसा होता है तो इस पूरी प्रक्रिया में जो एक राशि नहीं बदलती वो है $\frac{\sin\theta_i}{\sin\theta_r}$ । यानी कि, $\frac{\sin\theta_i}{\sin\theta_r} = constant$

स्नेल ने यह भी पाया कि जब प्रकाश एक अधिक घने माध्यम से कम घने माध्यम में जाता है तो $\theta_r > \theta_i$ यानी कि $\frac{\sin\theta_i}{\sin\theta_r} < 1$ होता है और जब प्रकाश एक कम घने माध्यम से ज़्यादा घने माध्यम में जाता है तो $\theta_r < \theta_i$ माने $\frac{\sin\theta_i}{\sin\theta_r} > 1$ होता है।

ये नियम अपने आप में काफी बड़ी उपलब्धी थे पर अभी भी पूरी तरह से अपवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं करते थे। और वैसे भी ये नियम प्रयोगों से निकाले गए थे और यह साफ नहीं था कि इस प्रक्रिया के पीछे के सिद्धान्त क्या हैं। ऐतिहासिक दस्तावेज़ों की माने तो सबसे पहले देकार्ते ने प्रकाश के अपवर्तन की सैद्धान्तिक व्याख्या दी। पर यह व्याख्या गलत थी।

प्रकाश के अपवर्तन के सिद्धान्त की सही व्याख्या दी फर्मा ने। फर्मा ने सिद्धान्त दिया कि अपवर्तन में प्रकाश की रेखाएँ इसलिए मुड़ती हैं ताकि वो अपना रास्ता कम-से-कम समय में पूरा कर सकें [2]। इस सिद्धान्त के मुताबिक फर्मा ने जो फार्मूला निकाला वो था,

$$\frac{\sin\theta_i}{\sin\theta_r} = \frac{v_1}{v_2}$$

यहाँ v_1 व v_2 क्रमशः माध्यम-1 व माध्यम-2 में प्रकाश की गति हैं। ये फॉर्मूला स्नेल के प्रयोगों की खोज के साथ एकदम सही बैठता है। और आज हम तमाम किताबों में यही फॉर्मूला पढ़ते हैं।

पर मज़े की बात ये है कि हमारे बॉण्ड ने भी ये फॉर्मूला पढ़ा था और इसीलिए जब टापू तक पहुँचकर दुनिया को बचाने का सवाल उसके सामने आया तो वो डरा नहीं, अन्य सुपर-हीरो की तरह। उसने झट से ये सम्बन्ध बैठा

---

[1] *कुछ स्रोतों में थॉमस हैरिअट नाम के एक अँग्रेज़ गणितज्ञ व भौतिकी वैज्ञानिक को भी स्नेल से पहले इस नियम को खोजने का श्रेय दिया जाता है। लेकिन अपवर्तन से जुड़े इस नियम को खोजने के सबसे पुराने दावेदार हैं इब्न सहल जो बगदाद के दरबार के एक फारसी गणितज्ञ व भौतिकी वैज्ञानिक थे और जिन्होंने 984 ईसवी में ही अपने एक लेख में इस नियम की सही व्याख्या की थी। (स्रोत - http://en.eikipedia.org/wiki/Snell%27s_law)*

[2] *एक जायज़ सवाल उठता है कि प्रकाश को कैसे पता कि किस रास्ते से जाकर लगने वाला समय सबसे कम होगा? इसका जवाब फिलहाल तो मेरे पास नहीं है। हाँ, उस व्यक्ति के पास ज़रूर हो सकता है जिसने क्वान्टम् इलैक्ट्रोडाइनेमिक्स पढ़ी हो।*

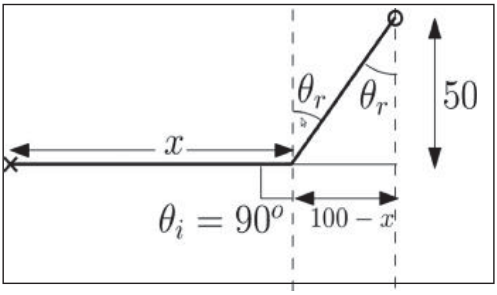

चित्र-5: एक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाती प्रकाश की एक किरण।

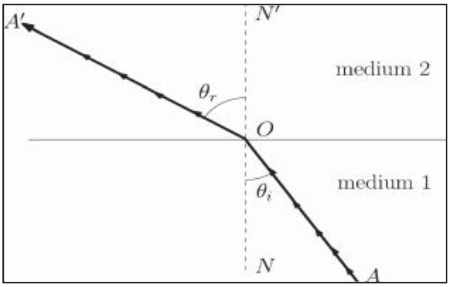

चित्र-6: स्नेल्स लॉ और जेम्स बॉण्ड की दौड़।

लिया कि अपवर्तन में प्रकाश एक से दूसरे माध्यम में जाता है और दुनिया को बचाने के लिए ऐसे दो माध्यमों से गुज़रना है जिनमें उसकी गति अलग-अलग होगी।

उसने बिजली की तेज़ी से दिमाग में चित्र-6 बनाकर गणित लगाया कि $\theta_i = 90^o$, $v_1 = 5$ m/s और $v_2 = 2$ m/s तो स्नेल के नियम के मुताबिक,

$$\frac{\sin 90^o}{\sin \theta_r} = \frac{5}{2} \qquad \text{यानी} \qquad \sin \theta_r = \frac{2}{5} \qquad (1)$$

साथ ही चित्र-6 में त्रिकोणमिती का नियम लगाकर उसने देखा कि,

$$\sin \theta_r = \frac{(100 - x)}{\sqrt{(100 - x)^2 + 50^2}} \qquad (2)$$

फिर उसने समीकरण (1) व (2) को मिलाकर अपनी घड़ी में लगे सुपरफास्ट केलकुलेटर से कुछ इस तरह x का मान निकालाः

$$\frac{2}{5} = \frac{(100 - x)}{\sqrt{(100 - x)^2 + 50^2}}$$

या

$$\frac{25}{4} = 1 + \frac{50^2}{(100 - x)^2}$$

$$100 - x = \frac{100}{\sqrt{21}}$$

$$x = 100 - \frac{100}{\sqrt{21}} = 100 - 21.82$$

$$= 78.18 \text{ m}$$

और दौड़ पड़ा दुनिया को बचाने। गौर कीजिए यह x का वही मान है जो हमने

पहले निकाला था। तो देखा आपने जेम्स बॉण्ड की दौड़ व स्नेल्स लॉ कैसे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अगर यह सम्बन्ध समझ आ गया हो तो नीचे के बॉक्स में दिए सवालों को हल करने में आपको कोई दिक्कत नहीं आनी चाहिए।

— — — — — — — — —

कुछ करने को:

- क्या आप फर्मेट के सिद्धान्त से स्नेल्स लॉ निकाल सकते हैं?
- अगर बॉण्ड और टापू के बीच की दूरी नीचे दिए गए चित्र जैसी हो तो बॉण्ड कितने कम-से-कम समय में टापू तक पहुँच सकता है?

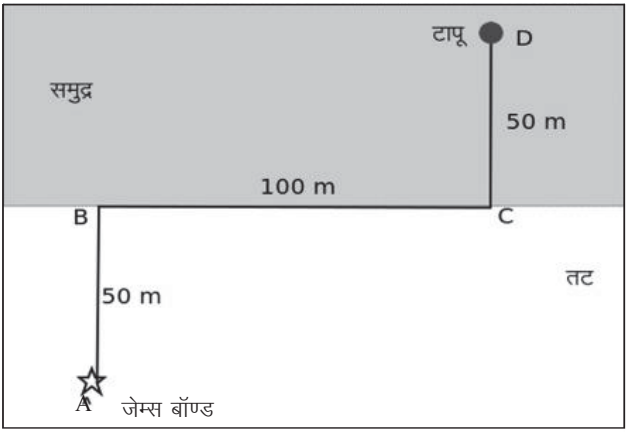

विवेक मेहता: आई.आई.टी., कानपुर से मेकेनिकल इंजीनियरिंग में पीएच.डी. की है। बीते सत्र तेजपुर विश्वविद्यालय के छात्रों को पढ़ाने की तैयारी के दौरान इस लेख की रूप-रेखा तैयार की। इन दिनों स्वतंत्र रूप से लिखने व अनुवाद का काम करते हैं।

यह लेख दो किताबों में उपलब्ध सामग्री पर आधारित है:

1. "When Least is Best" by Paul J Nahin, और
2. "Optimization: Insights and Applications" by Jan Brinkhuis and Vladimir Tikhomirov

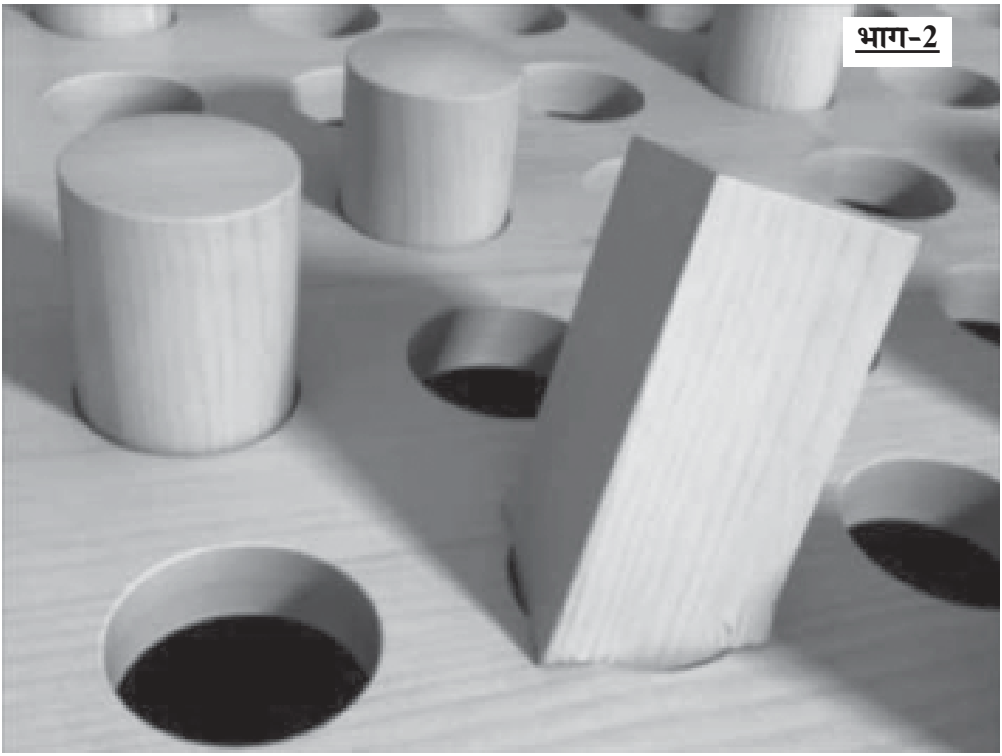

भाग-2

मिथ्याकरण, क्रान्तियाँ और कार्यक्रम

रॉबिन डनबार

बेकन के बाद की सदियों में दार्शनिक हमेशा ही इस नतीजे पर पहुँचते रहे कि विज्ञान के सिद्धान्त तो बस सामान्य नियम हैं जिन्हें अवलोकनों की एक लड़ी के आधार पर हासिल किया गया है। मसलन, एक विशेष घटनाक्रम के कई उदाहरण देखने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि 'सभी राजहंस सफेद हैं', या 'प्रत्येक बार जब बिजली चमकती है, तो हमेशा गर्जन होता है'। इस से विचार बना कि विज्ञान के तीन विभिन्न चरण होते हैं: *विवरण,* जिस के बाद सामान्य नियमों का *आगमन* होगा,

जिन्हें फिर उसी परिघटना (या शायद किसी प्रयोग) के नए अवलोकनों की रोशनी में *जाँचा जाएगा*, यह देखने के लिए कि वह सामान्य नियम खरा उतरता है कि नहीं। यह नज़रिया वैज्ञानिकों और दार्शनिकों, दोनों में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक प्रचलित रहा। बल्कि यह सामाजिक विज्ञानों तथा जीव विज्ञान के भी कुछ क्षेत्रों में इस सदी में काफी बाद तक प्रभुत्व में रहा, और इसे *प्रत्यक्षवादी दर्शन* यानी पॉज़िटिविज़म के नाम से जाना गया (इस नज़रिए को यह लेबल फ्रांस के एक वैज्ञानिक व दर्शनशास्त्री तथा समाजशास्त्र के निर्माताओं में से एक, ऑगस्त कोम्त, ने दिया था)। अधिकतर आम लोगों के लिए अब भी विज्ञान का अर्थ है दुनिया के बारे में नए तथ्यों की खोज। यही नज़रिया था जिसने विक्टोरियन युग में जीव वैज्ञानिक तथा भूवैज्ञानिक संग्रहों की असाधारण प्रचुरता के लिए औचित्य प्रदान किया और इसके चलते सदी के आखिर में इन संग्रहों को बसाने के लिए बड़े-बड़े राष्ट्रीय संग्रहालयों का निर्माण हुआ।

प्रत्यक्षवाद को चुनौतियाँ

सूत्रबद्ध होने से पहले ही, विज्ञान का यह एकरेखीय दृष्टिकोण, कुछ वैज्ञानिकों के काम करने के तरीके की वजह से कमज़ोर पड़ने लगा था। अनुभवों के आधार पर सामान्य नियमों का एकत्र किया जाना उस तरीके का अच्छा वर्णन हो सकता है जिसके तहत उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भी जीव-वैज्ञानिक और भूवैज्ञानिक कार्य करते थे, लेकिन सत्रहवीं सदी की तथाकथित वैज्ञानिक क्रान्ति भौतिक विज्ञानों में आगे बढ़ने का एक अलग तरीका प्रदान कर चुकी थी। यहाँ कारणों के सिद्धान्त उत्पन्न करने को विकास की चाभी माना गया, न कि विवरणात्मक सामान्य सिद्धान्तों की तेज़ बढ़ोतरी को।

इसी बीच, विज्ञान के प्रत्यक्षवादी (पॉज़िटिविस्ट) नज़रिए के सामने भी दर्शनशास्त्रीय चुनौतियाँ थीं। क्योंकि बहुत पहले, अठारहवीं सदी के मध्य में ही महान स्कॉटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने इस ओर इशारा किया था कि सामान्यीकरणों के आगमन (इन्डक्शन) में एक गम्भीर समस्या है : आगमनात्मक (इंडक्टिव) प्रणाली की सफलता की एक ही गारण्टी है - कि वह पहले भी सफल रही हो। लेकिन यह स्वयं भी एक सामान्यीकरण है, और क्योंकि अगला उदाहरण इस विशेष सामान्यीकरण को गलत सिद्ध कर सकता है, इसलिए हम एक चक्रव्यूह में फँस जाते हैं जिसके चलते हम एक सामान्यीकरण को, किसी अन्य उतने ही डगमग सामान्यीकरण की मदद से, उचित ठहराने की कोशिश करते हैं। इस लिए आगमनात्मक प्रणाली घातक तौर पर त्रुटिपूर्ण है, और इससे जुड़ा अनुभव-आधारित विज्ञान का कोई भी रूप लाज़िमी तौर पर कमज़ोर ही पड़ता है। आगमन में ज्ञान की

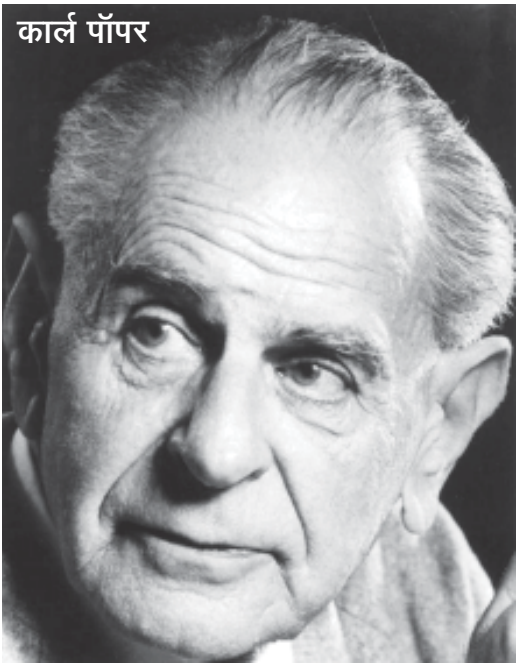
कार्ल पॉपर

निश्चितता की गारण्टी का अभाव है जब कि तर्कशास्त्र तथा गणित जैसी निगमनात्मक (डिडक्टिव) विद्याओं में यह मौजूद है।

कार्ल पॉपर

बेशक, इस विरोधाभास का हल निकालने का सबसे प्रख्यात प्रयास ऑस्ट्रियन दार्शनिक कार्ल पॉपर द्वारा किया गया। 1930 के दशक में पॉपर खास तौर पर इस बात पर ध्यान दे रहे थे कि किस प्रकार विज्ञान के तथा पराभौतिकी (मेटाफिज़िक्स) के कथनों में अन्तर किया जाए (यानी बाहरी वैधता लिए हुए कथनों को विशुद्ध, कोरे विश्वास वाले कथनों से फर्क करके देखना)। पॉपर इस बात को समझते थे कि विज्ञान को आगमन का हवाला देकर तार्किक अर्थों में सही सिद्ध करने की कोशिशें असफल ही हो सकती हैं। इसकी बजाए उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि वैज्ञानिक वास्तव में केवल किसी निश्चित प्राकृतिक घटना के उदाहरणों को ही एकत्र नहीं करते, और उनसे सामान्य निष्कर्ष प्राप्त नहीं करते, बल्कि वे तो संसार की प्रकृति के बारे में परिकल्पनाएँ उत्पन्न करते हैं (हमेशा तो नहीं लेकिन कभी-कभी आगमनात्मक सामान्यीकरण से) और फिर वे इन परिकल्पनाओं को सख्ती से जाँच-पड़ताल के लिए समर्पित करते हैं। पॉपर का इस बात पर बल था कि ये जाँच किसी सिद्धान्त विशेष को सिद्ध करने का प्रयास नहीं होती (आगमन का एक रूप) बल्कि ये तो उसे गलत सिद्ध करने का प्रयास होती है। उनकी दलील थी कि तार्किक नज़रिए से देखें तो सबूत को कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता। हम किसी बात को पक्के तौर पर उन कारणों से ही गलत साबित कर सकते हैं जिनकी ओर ह्यूम ने इशारा किया था: किसी एक सामान्य निष्कर्ष को गलत सिद्ध करने के लिए तो खण्डन-भरा एक ही विपरीत उदाहरण काफी है जबकि सबूत के लिए सम्बद्ध प्राकृतिक घटना के प्रत्येक उदाहरण

को प्रमाण के रूप में व्यवस्थित करने का नामुमकिन काम करना होगा (और शायद इसमें वे उदाहरण भी शामिल करने हों जो अभी हुए ही नहीं!)। दूसरे शब्दों में, प्रयोग जाँच की जा रही परिकल्पना को झुठलाने के लिए किए जाते हैं, न कि उसके सत्य को प्रदर्शित करने के वास्ते। और पॉपर का इसरार था कि यह बात आगमन (इन्डक्शन) की समस्या के चक्रव्यूह को तोड़ती है। यदा-कदा खण्डन करने वाला विपरीत उदाहरण तो विज्ञान के लिए दुःस्वप्न होने की बजाए बिलकुल वह चीज़ है जिसकी तलाश वैज्ञानिक को रहती है - यह तो विज्ञान की उत्तमता का प्रतीक है, उसकी विशिष्टता और शुद्धता का प्रमाण-चिन्ह है।

इसी से पॉपर ने *मिथ्याकरण* (फॉल्सिफिकेशन) का शब्द गढ़ा, क्योंकि उनके मुताबिक यही तो था जो वैज्ञानिक असल में करते हैं। तकरीबन आधी सदी तक पॉपर द्वारा दी गई विज्ञान की इस अवधारणा ने विज्ञान के दर्शनशास्त्र पर अपनी धाक बनाए रखी। मिथ्याकरण की प्रक्रिया के रूप में विज्ञान की इस अवधारणा का प्रभाव अब तक भी वैज्ञानिकों में है। लेकिन अन्ततः यह स्पष्ट हो गया कि असल में वैज्ञानिक हमेशा पॉपर के सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करते थे। कुछ मौकों पर वे बहुत ही कम या बिना किसी सबूत के भी परिकल्पनाओं को स्वीकार करते प्रतीत होते थे; अन्य मौकों पर जाँचों द्वारा गलत सिद्ध हो जाने पर भी परिकल्पनाओं को रद्द करने से इन्कार कर देते थे। वास्तव में तो पॉपर का सिद्धान्त बहुत ही अधिक सख्त सिद्ध होता है और यदि इसे कड़ाई से लागू किया जाता है तो बहुत ही कम समय में शायद हमें विज्ञान को ही त्याग देना पड़े - वैज्ञानिकों के पास जाँचने को परिकल्पनाएँ ही नहीं रहेंगी क्योंकि संसार के बारे में उनका ज्ञान बहुत ही सीमित है। पॉपर के वृत्तान्त में दो कमियों की वजह से ऐसा प्रतीत होता है।

सिद्धान्तों की सीमाएँ

पॉपर के सिद्धान्त के लिए एक मुश्किल तो यह है कि अधिकतर विज्ञान सिद्धान्तों को गलत सिद्ध करने में नहीं बल्कि उन बिन्दुओं को चिन्हित करके, जहाँ ये सिद्धान्त काम नहीं करते (यानी वे क्षेत्र जिनमें वे गलत या दोषपूर्ण भविष्यवाणी करते हैं), उन्हें लागू किए जाने की सीमाओं को परिभाषित करने में लगा होता है। भौतिकीविद् आजकल इस सवाल से बहुत उद्वेलित हैं कि क्या आधुनिक क्वांटम भौतिकी के सिद्धान्त पूरे ब्रह्माण्ड पर लागू होते हैं या फिर वे किन्हीं हालात में नाकामयाब रहते हैं (जैसे कि अन्तरिक्ष में ब्लैक होल्ज़ में मौजूद परिस्थितियाँ या लगभग 15 अरब साल पहले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय बिग बैंग के विध्वंसक विस्फोट के दौरान)। बिग बैंग की असाधारण और अजीब परिस्थितियों को फिर से जीवन्त करने की कोशिश में ही

CERN गोलाकार सुरंग

यूरोपियन देशों द्वारा दी गई निधि से स्विटज़रलैंड में CERN जैसी, अत्यन्त विशाल मशीनों पर धन लगाया गया है; धरती के बहुत नीचे बनाई गई इन विशाल गोलाकार सुरंगों में भीमकाय चुम्बक उप-परमाणवीय कणों (सब-ऐटॉमिक पार्टिकल्स) की रफ्तार को लगभग प्रकाश की गति की हद तक ले जाती हैं और फिर उन्हें एक-दूसरे से टकरा देते हैं। इसके फलस्वरूप होने वाली टकराहटों से ऊर्जा की ज़बरदस्त मात्रा निकलती है और इस प्रकार भौतिक विज्ञानियों को मौका मिलता है कि वे कणों के व्यवहार को ऐसी परिस्थितियों में जाँच सकें जो सूरज जैसे सितारों के भीतर प्रचण्ड परमाणु भट्टियों में पाए जाने वाले हालात की हद को भी पार करती हों। इन हालात में क्या होना चाहिए, इस बारे में यदि क्वांटम सिद्धान्त द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध होती हैं, तो हम जान जाएँगे कि इन अति की परिस्थितियों से निपटने के लिए एक नई ही तरह की भौतिकी का विकास करना होगा। इससे पहले की न्यूटोनियन भौतिकी की ही तरह क्वांटम भौतिकी भी इस ब्रह्माण्ड की असली, मूलभूत भौतिकी का केवल एक अनुमान ही साबित होगी।

दूसरी समस्या यह है कि पॉपर की मिथ्याकरण की कार्यविधि इस नज़रिए पर आधारित प्रतीत होती है कि वास्तविक संसार में कारणात्मक सम्बन्ध केवल 'एक कारण, एक प्रभाव' जैसी प्रक्रियाएँ हैं। असल में तो वास्तविक संसार में अधिकतर प्राकृतिक घटनाएँ कई परिवर्तनशील तत्वों के कारण होती हैं और उनसे प्रभावित होती हैं, जैसा

कि हमने किसान और फसलों के उदाहरण में पाया। यदि हम इस तर्काधार को जाँचने लगें कि 'वसन्त की बरसातों के तुरन्त बाद बोई गई फसलें सबसे बेहतर विकसित होती हैं', तो हो सकता है हम पाएँ कि ऐसा नहीं होता क्योंकि हमने उस मिट्टी की किस्म को ध्यान में नहीं रखा जहाँ प्रयोग किया गया, या फिर तापमान का ध्यान नहीं किया, जब कि ये दोनों बातें फसल के विकास को प्रभावित करती हैं, और शायद ये हमारी जाँच के उस स्थान पर बरसात के प्रभाव को बेअसर कर दें। पॉपर मुख्य तौर से न्यूटोनियन भौतिकी जैसी विद्या की शाखाओं से प्रभावित थे जिनमें अधिकतर घटनाओं के एक मुख्य, निर्णायक कारण पर आधारित सरल स्पष्टीकरण होते हैं - जब एक सेब पेड़ पर से अलग होता है, वह गुरुत्व के कारण धरती पर गिरता है; जैसे ही सूरज क्षितिज पर उभरता है, सवेरा होता है।

एक बार फिर, वास्तविक जीवन की अधिकतर स्थितियों में भ्रमित कर देने वाले, पेचीदा परिवर्तनशील कारकों की समस्या हमें चक्कर में डाल देती है। पॉपर के मिथ्याकरण के सिद्धान्त का अनुसरण करना बहुत सावधानी से नियंत्रित की गई प्रायोगिक परिस्थितियों में ही उचित होगा। लेकिन फिर भी यह तब ही सफल होगा यदि हम सर्वज्ञानी हों और भ्रमित कर देने वाले सभी परिवर्तनशील कारकों को प्रारम्भ से ही पहचान पाएँ। स्पष्ट है कि यदि हमें यह सब मालूम होगा तो प्रयोग की चिन्ता करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी!

थॉमस कुन

पॉपर के असमंजस के हल की शुरुआत 1950 के दशक में हुई। भौतिक विज्ञानी से विज्ञान के इतिहासकार बने अमेरिकन थॉमस कुन (Thomas Kuhn) के लिए यह दिलचस्पी का विषय था कि उन्नीस्वीं सदी में वैज्ञानिकों ने इतने लम्बे समय तक न्यूटन के सिद्धान्त को त्यागने से इन्कार क्यों किया - बावजूद इसके कि उसके विरुद्ध बहुत-से सबूत इकट्ठा हो रहे थे। भौतिक विज्ञान के इतिहास

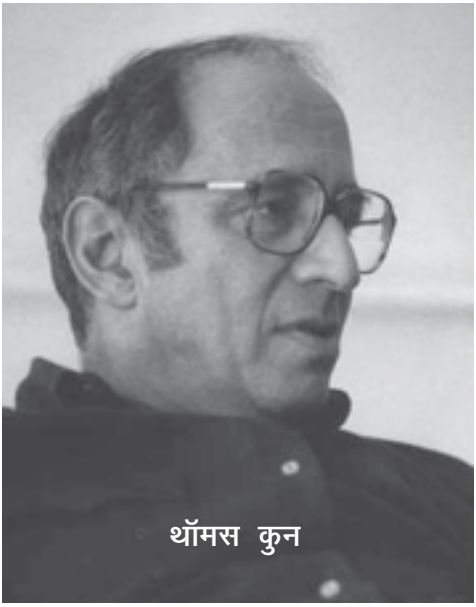

थॉमस कुन

के गहन अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विज्ञान झटकों में आगे बढ़ता है। बड़े-बड़े अहम विचार अन्ततः तब 'वैज्ञानिक क्रान्तियों' को जन्म देते हैं जब किसी विशेष विद्याक्षेत्र के सक्रिय सदस्य अचानक किसी नए प्रतिमान (या पैराडाइम) पर सहमति बना लेते हैं। एक बार पैराडाइम शिफ्ट हो जाता है तो, कुन की शब्दावली में, सभी 'सामान्य विज्ञान' (नॉर्मल सायंस) के एक समयकाल में आ टिकते हैं और नए पैराडाइम के निहितार्थों को जाँचने-परखने लगते हैं। इस समयकाल में उद्देश्य होता है नए पैराडाइम को लागू किए जाने की सीमाओं को निर्धारित करना - उसकी 'सीमा शर्तों' को तय करना। आखिरकार, नए सिद्धान्त द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ भी गलत साबित होनी शुरू हो जाएँगी। वैज्ञानिक पहले पहल तो सिद्धान्त को तुरन्त नहीं त्यागेंगे। बल्कि वे तो उस की प्रतिरक्षा में आएँगे। ऐसी खास, एवजी तौर पर सहायक परिकल्पनाओं का हवाला दिया जाएगा जो इस बात का स्पष्टीकरण दें कि क्यों इस सिद्धान्त द्वारा केवल उन ही परिस्थितियों में भिन्न भविष्यवाणियाँ दी जानी चाहिए जिनमें वह झूठी भविष्यवाणियाँ करता लगता है। लेकिन आखिरकार गलत साबित हुई भविष्यवाणियों का बोझ इतना अधिक हो जाएगा कि सिद्धान्त को ही त्याग देना पड़ेगा। इस मौके पर कोई-न-कोई किसी एक नए पैराडाइम का सुझाव देगा, एक वैज्ञानिक क्रान्ति आएगी, और पूरा चक्र एक बार फिर से चलेगा।

कुन की विज्ञान की अवधारणा पॉपर द्वारा दी गई अवधारणा के बिलकुल विपरीत, उसके विरोध में खड़ी प्रतीत होती है, और बहुत-से लोगों ने इन दोनों दृष्टिकोणों को पूर्ण रूप से विपरीत दिशा में स्थित माना है। लेकिन ऐसा करना कुछ बातों में उन दोनों की दलीलों की प्रकृति को गलत समझने के बराबर है। पॉपर का कथन एक नुस्खे की तरह है जो बताता है कि हालात को ठीक अवस्था में लाना हो तो वैज्ञानिकों को क्या करना चाहिए; कुन का कथन मानकीय (नॉर्मेटिव) है, वह बताता है कि वैज्ञानिक वास्तव में क्या करते हैं। वैज्ञानिकों के कार्य के तौर-तरीके के बारे में कुन का वृत्तान्त इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कहता कि दिया गया सिद्धान्त या पैराडाइम सही है या गलत - वह केवल इतना कहता है कि वैज्ञानिक एक समूह के तौर पर उसे स्वीकारने या अस्वीकार करने की ओर प्रवृत्त हैं। ऐसा इसलिए किया जा सकता है कि वह सिद्धान्त पुराने सिद्धान्त के मुकाबले उपलब्ध प्रमाण का बेहतर स्पष्टीकरण दे पाता है। या फिर ऐसा किसी मनमाने कारण से भी किया जा सकता है (जैसे कि गोटी के खेल का नतीजा या फिर सामूहिक स्तर पर राजनैतिक आस्था के कारणों से)।

यह देख पाना मुश्किल नहीं है कि किस प्रकार यह आखिरी विकल्प इस

नज़रिए की ओर ले जा सकता है कि विज्ञान के सिद्धान्त उस संस्कृति की देन हैं, जिसमें एक वैज्ञानिक रचा-बसा है, और उनकी कोई भी वास्तविक बाहरी वैधता नहीं है। कभी-कभी कुन स्वयं भी ऐसा ही सापेक्षवादी (रिलेटिविस्टिक) नज़रिया अपनाने के इच्छुक लगते हैं। लेकिन दूसरे ढंग से व्याख्या करें तो कुन के विचार इस तर्कशील नज़रिए के अनुकूल हैं कि वैज्ञानिक नए पैराडाइम को तब ही अपनाते हैं जब उन्होंने पुराने को विनाश की हद तक जाँच लिया हो और उससे बेहतर, उसका स्थान ले पाने वाला नया पैराडाइम ढूँढ़ लिया हो।

बिलकुल यही व्याख्या हंगरी के दार्शनिक इम्रे लकातोश ने भी दी है। उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया है कि वैज्ञानिक कुछ मौकों पर तो पॉपर के नज़रिए के मुताबिक चलते हैं लेकिन अन्य मौकों पर कुन के नज़रिए के मुताबिक। लकातोश की दलील थी कि प्रकट रूप में दिखने वाला यह विरोधाभास केवल इसलिए उभरता है कि विज्ञान के दार्शनिक इस बात को पहचान नहीं पाए कि दोनों स्थितियों में बिलकुल ही अलग तरह के सिद्धान्तों का मसला था। लकातोश ने सुझाया कि जिस संसार में वैज्ञानिक कार्यरत होते हैं, वह कई परतें लिए रहता है। उसमें कुछ सिद्धान्त एक प्रोग्रामयुक्त तरीके से कार्य करते हैं जबकि अन्य सिद्धान्तों का ध्यान इस बात की बारीकियों पर रहता है कि स्वयं प्रोग्राम कार्य कैसे करता है। प्रोग्राम सम्बन्धी सिद्धान्त वैज्ञानिकों को कोई विशेष प्रयोग करने का या फिर संसार को एक खास ढंग से देखने का कारण प्रदान करता है - वह कुन के पैराडाइम की तरह है। इसी प्रोग्राम के अन्तर्गत वैज्ञानिक सहायक परिकल्पनाएँ उत्पन्न करते हैं जो विशेष तौर पर दर्शाती हैं कि ढाँचागत सिद्धान्त व्यवहार में कैसे काम करता है - वैज्ञानिक इन्हें ही बारीकी से जाँचते हैं, और पॉपर की तर्ज़ पर स्वीकारते या अस्वीकारते हैं।

जैव-विकास - एक उदाहरण

डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया के अन्तर्गत होने वाले जैव-विकास का सिद्धान्त जीवविज्ञानियों के लिए एक ढाँचागत सिद्धान्त प्रदान करता है - वह उन्हें अपने प्रेक्षणों को एक खास ढंग से व्याख्यायित करने के लिए प्रेरित करता है और जाँचने के लिए कुछ विशेष परिकल्पनाएँ सुझाता है। सहायक परिकल्पनाएँ सही हो भी सकती हैं और नहीं भी, लेकिन उनका गलत सिद्ध होना अपने आप में इस बात का प्रमाण नहीं है कि ढाँचागत सिद्धान्त गलत है। इससे तो हमें केवल यह मालूम होता है कि ढाँचागत सिद्धान्त अपने प्रभाव उस रूप में उत्पन्न नहीं करता जैसा कि माना गया था। मैं एक और अधिक स्पष्ट उदाहरण देता हूँ।

जैव-विकास का सिद्धान्त हमें एक ऐसा सैद्धान्तिक ढाँचा देता है जिसके

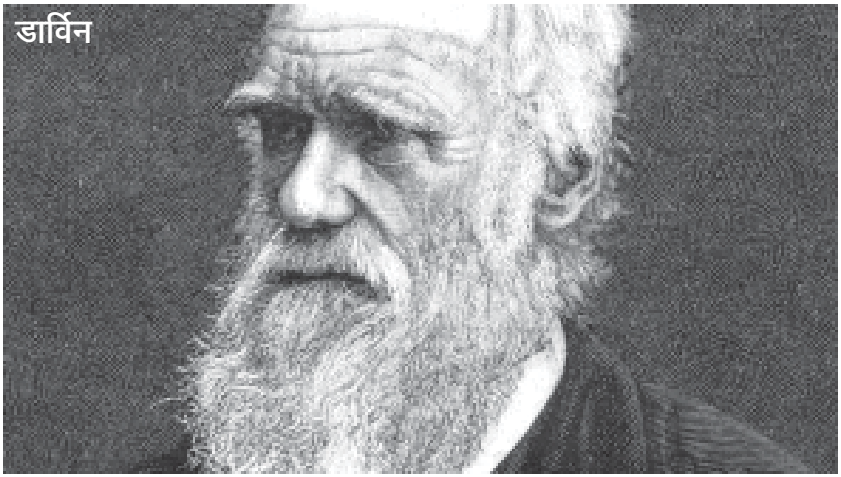
डार्विन

चलते हम जीवाश्मों (फॉसिल्स) के बिखरे हुए रिकॉर्ड का कुछ अर्थ निकाल सकते हैं। 1970 के दशक के प्रारम्भ तक बड़े स्तर पर यह माना जाता था कि इन्सानों और चिम्पांज़ियों का अन्तिम साँझा पूर्वज तकरीबन 150 लाख साल पहले हुआ था। इस बात की जड़ में आधुनिक इन्सानों और रमापिथेसींस (Ramapithecines) नामक बिना पूँछ वाले, एशियाई मूल के बन्दरों के दाँतों में पाई जाने वाली समानताएँ थीं। लेकिन आण्विक जीवविज्ञान (मॉलिक्युलर बायॉलजी) में नई तकनीकें आईं, और कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एलन विल्सन तथा उनके साथियों ने इन्सान और बन्दर के खून के प्रोटींस की तुलना के आधार पर पाया कि इनका अन्तिम साँझा पूर्वज सम्भवतः केवल 30 से 50 लाख साल पहले तक जीवित था। इसके बाद बहुत बहस-मुबाहिसा हुआ, लेकिन अन्त में आण्विक जीवविज्ञान बाज़ी ले गया। शरीर-रचना विज्ञानियों ने एक बार फिर जीवाश्मों को बहुत ही करीब से, ध्यान से जाँचा और इस नतीजे पर पहुँचे कि रमापिथेसींस वास्तव में शायद इस समय के अकेले जीवित एशियाई महावानर ओरांगुटान के पूर्वज थे। गलती केवल एक विशेषता, यानी दाँतों की चमकीली तह (इनैमल) की मोटाई पर अत्यधिक निर्भरता की वजह से हुई थी, जो इन्सानों और बन्दरों, दोनों में केवल इसलिए पाई जाती थी क्योंकि वे एक से स्थलीय पर्यावरण में रहते थे। इन्सान के जैव-विकास का नक्शा फिर से बनाया गया लेकिन स्वयं जैव-विकास का सिद्धान्त किसी रूप में प्रभावित नहीं हुआ।

वास्तव में, लोगों में व्याप्त आम विश्वास के विपरीत, जैव-विकास के

सिद्धान्त को जीवाश्मों के अभिलेखों (फॉसिल रिकॉर्ड्स) से प्राप्त किसी भी सबूत के आधार पर गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता - जीवाश्मों के अभिलेख तो हमें केवल यह बता सकते हैं कि जैव-विकास कैसे हुआ और किन रास्तों से होता हुआ चला, न कि यह कि जैव-विकास का सिद्धान्त सही है या नहीं। जैव-विकास के सिद्धान्त को जैव-विकास की संरचनाओं (जैसे, प्राकृतिक चुनाव) के अध्ययनों के ज़रिए ही गलत सिद्ध किया जा सकता है, और ये अध्ययन जीवों की जीवित प्रजातियों पर ही किए जा सकते हैं। जीवाश्मों के अभिलेखों से अर्थ निकालने की कोशिश में हम यह मान कर चलते हैं कि जैव-विकास का सिद्धान्त सही है और उसके ढाँचागत सिद्धान्त की वैधता की जाँच अन्य वैज्ञानिक कर रहे हैं।

लकातोश ने एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक बात यह भी रखी कि इस बात में कोई दम नहीं है कि किसी ढाँचागत सिद्धान्त को केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया जाए क्योंकि उस के विरुद्ध प्रमाण हैं। ढाँचागत सिद्धान्त न हो तो हम प्रश्न नहीं कर पाएँगे, न ही कोई प्रयोग निर्मित कर पाएँगे। इसलिए एक ढाँचागत सिद्धान्त को तब तक त्यागने की कोई तुक नहीं है जब तक कि हमारे पास उसके विकल्प के रूप में कोई बेहतर ढाँचागत सिद्धान्त न हो। एक विकल्प के अभाव में किसी ढाँचागत सिद्धान्त को त्यागना बस उतना ही लाभदायक है जितना कि एक कैलेण्डर न होने की स्थिति में लोगों से मिलने के समय को पूर्व निश्चित कर सिलसिलेवार दर्ज़ करना। बेहतर है कि किसी विकल्प के उभरने तक पुराने सिद्धान्त को प्रयोग में लाया जाता रहे, चाहे वह बदनाम ही क्यों न हो गया हो। बल्कि विकल्प तलाशने का सबसे बेहतर तरीका है कि पुराने पैराडाइम द्वारा उत्पन्न परिकल्पनाओं को लगातार जाँचा जाता रहे। ऐसा करने से हमारे पास कम-से-कम यह मौका तो रहेगा कि कोई ऐसा महत्वपूर्ण तथ्य सामने ले आया जाए जो हमें एक नए पैराडाइम की ओर ले जाए।

अवलोकन, परिकल्पना व परीक्षण

वैज्ञानिकों के वास्तव में काम करने के तौर-तरीकों के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य सिद्धान्त और तथ्य-समूहों के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण पुनर्व्याख्या की दिशा में ले गए। याद रहे कि अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध की व्याख्या एक-रेखीय सम्बन्ध के रूप में की थी:

प्रेक्षण - परिकल्पनाएँ - परीक्षण

एक वैज्ञानिक द्वारा तब तक अवलोकन आधारित जानकारियाँ एकत्रित की जाती हैं जब तक कि वे सामान्यीकरण (यानी एक परिकल्पना) के छोर तक पहुँचने के लिए पर्याप्त संख्या में न हो जाएँ, और फिर वह उस परिकल्पना को नए अवलोकन-प्रेक्षण की रोशनी में जाँचता है।

बीसवीं सदी के दौरान विचारों में आए परिवर्तनों से सिद्धान्त के संसार और अनुभवसिद्ध तथ्य-समूहों के संसार में एक बहुत ही तीखा विभाजन हुआ। जैसा कि महान जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट ने एक सदी से भी अधिक पहले के समय में कहा था, सिद्धान्त ही हैं जो हमारे लिए यह गुंजाइश निकालते हैं कि हम जो भी देखते हैं, उसका कुछ अर्थ निकाल पाएँ। किसी विचार या सन्दर्भ से काट कर अलग-थलग देखा जाए तो एक जानवर का सम्भोग की प्रक्रिया में होना कोई आन्तरिक मायने नहीं रखता - इसे एक जानवर के दूसरे की पीठ पर लेटे होने के सिवाय किसी और नज़र से नहीं देखा जाएगा। हम इस दृश्य को बहुत अच्छे से वर्णित कर पाएँगे लेकिन यह व्यवहार तब ही हमारे लिए महत्वपूर्ण माना जाएगा यदि हम प्रजनन के किसी सिद्धान्त तक पहुँच पाएँ जो हमें उस व्यवहार के नतीजों के बारे में भी कुछ बताए। इससे भी अधिक स्पष्ट उदाहरण हमें आण्विक (पार्टिकल) भौतिकी से प्राप्त होता हैः ऊपरी तौर पर देखें तो एक क्लाउड चेम्बर तस्वीर पर उप-परमाण्वीय अणुओं (सब-ऐटॉमिक पार्टिकल्स) में टकराहट के पश्चात् प्रकट होने वाली बिखरी हुई-सी पंक्तियाँ यूँ ही, बेतरतीब ढँग से खींची गई पंक्तियाँ हैं। वे महत्व (या आप चाहें तो अर्थ) तो तब ग्रहण करती हैं जब अणु (पार्टिकल) भौतिकी के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में उनकी व्याख्या की जाती हैः उनमें से एक अब W^+ बोसोन का ट्रैक बन जाती है, दूसरी Z^0 पार्टिकल हो जाती है, तीसरी फोटोन, आदि-आदि। सैद्धान्तिक ढाँचे हमारा ध्यान प्रकट संसार की कुछ विशेष प्राकृतिक घटनाओं की ओर दिलाते हैं। उन्हें अवलोकनों के एकत्रित समूहों से आगमन (इन्डक्शन) के ज़रिए हासिल किया जा सकता है, लेकिन ऐसा किए जाने की ज़रूरत नहीं है, और अधिकतर विकसित विज्ञानों में ऐसा किया भी नहीं जाता।

प्रभावी तौर पर, विज्ञान की नई अवधारणा गोलाकार थी, न कि एक-रेखीय। इसमें दो बिलकुल भिन्न, अलग दिखाई देने वाले लेकिन समानान्तर संसार थे (सैद्धान्तिक संसार जिसमें

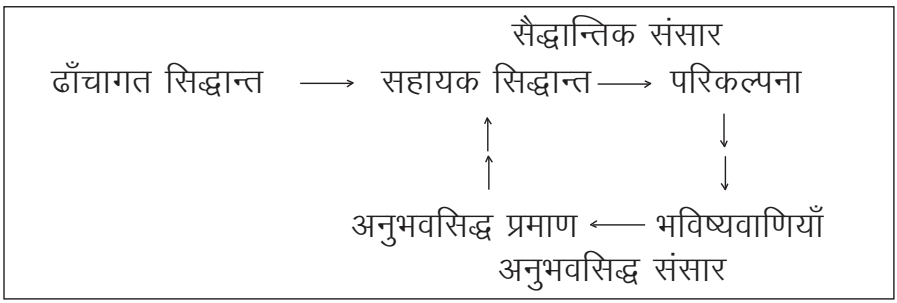

सिद्धान्तों का वास था, तथा अवलोकनों का अनुभवसिद्ध संसार) जो परिकल्पनाओं की जाँच से प्राप्त प्रतिक्रियाओं के माध्यम से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध थे। (फ्लो चार्ट पिछले पृष्ठ पर देखिए)

विज्ञान की कार्यशैली की यह परिकल्पना *परिकाल्पनिक एवं निगमनात्मक मॉडल* (हाइपोथेटिको-डिडक्टिव मॉडल) के नाम से जानी जाती है - यह भद्दा-सा नाम दार्शनिक कार्ल हेम्पल द्वारा दिया गया है। सिद्धान्त मूलतः इस बात के मॉडल होते हैं कि संसार कैसे कार्य करता है। हम आवश्यक तौर पर एक सैद्धान्तिक संसार के मध्य रहते हुए कार्य करते हैं, यह निष्कर्ष निकालते हुए कि मॉडल की मान्यताओं और आधारभूत पूर्व-धारणाओं से क्या परिणाम निकलेंगे। उसके बाद हम मॉडल द्वारा की गई भविष्यवाणियों की यथार्थ से तुलना करते हुए उसकी वैधता को जाँचते हैं। जब तक मॉडल पर आधारित भविष्यवाणियाँ यथार्थ से मेल खाती हैं, हम मॉडल को विकसित करने की प्रक्रिया को जारी रखते हैं। लेकिन जब वह वास्तविकता की सही भविष्यवाणी करने में असफल हो जाता है तो हम उसी मुताबिक उसमें कुछ बदलाव लाने की कोशिश करते हैं या फिर उससे बेहतर किसी मॉडल की तलाश करते हैं। दूसरे शब्दों में विज्ञान अपनी ही गलतियों से सीखता है। असलियत तो यह है कि वह डार्विनियन अन्दाज़ में व्यवहार करता है - केवल सफल सिद्धान्त ही बचे रह सकते हैं।

विज्ञान का सर्चलाइट मॉडल

हाँ, यह तो है कि ज्ञान के सभी क्षेत्रों की प्रारम्भिक वर्णनकारी अवस्थाओं में आगमनात्मक पुट (इन्डक्शन) रहता है। लेकिन इसके साथ ही, ज्ञान का जो भी क्षेत्र इस अवस्था में ही जड़ हो जाता है वह तो बस संसार में मौजूद सह-सम्बन्धों का विवरण देने के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकता। संसार जैसा है, उसका वैसा ही होना क्यों ज़रूरी है, ऐसे स्पष्टीकरण देकर वह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक दर्जा हासिल नहीं कर सकता। इसे तो केवल बौद्धिक संग्रहण के एक रूप के तौर पर ही देखा जा सकता है। लेकिन जब कोई ज्ञान का क्षेत्र इस विवरणात्मक अवस्था में से बाहर निकल आता है तो हम पाते हैं कि सिद्धान्तों का अस्तित्व एक अनुभवसिद्ध संसार में होने की बजाए एक सैद्धान्तिक या मीमांसात्मक संसार में होता है: सिद्धान्तों को धारणाओं के ऐसे समूहों के आधार पर विकसित किया जाता है जो उसूलन वास्तविक संसार से काफी स्वतंत्र होती हैं।

विज्ञान के इन दो नज़रियों को पॉपर द्वारा ज्ञान के क्रमशः *बकेट* और *सर्चलाइट* मॉडलों के तौर पर वर्णित किया गया। आगमनात्मक (या कुकबुक) विज्ञान कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे किसी बाल्टी को रेत से भर दिया जाए (इस उम्मीद पर कि कुछ-न-कुछ दिलचस्प

तो सामने आ ही जाएगा); औपचारिक (या स्पष्टीकरण खोजने की कोशिश करने वाला) विज्ञान कुछ बहुत ही विशेष सिद्धान्तों द्वारा उत्पन्न भविष्य-वाणियों को वास्तविक संसार की खोज-परख के लिए औज़ार के तौर पर इस्तेमाल करके एक सर्चलाइट की तरह कार्य करता है।

यदि विज्ञान का सर्चलाइट मॉडल सच्चा है तो वह आगमन के बारे में ह्यूम की चिन्ताओं के दम को काफी हद तक कमज़ोर कर देता है। इस लिए विज्ञान का केन्द्र-बिन्दु होने की बात तो दूर, अनुभवसिद्ध आधार पर निकाले गए सामान्य निष्कर्ष बुरी-से-बुरी सूरत में सिद्धान्त-विकास के लिए प्रस्थान-बिन्दु होते हैं, और सबसे बेहतर सूरत में एक सिद्धान्त की भविष्यवाणियों को जाँचने का आधार हो सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान में सिद्धान्त निरंकुश या मनमाने होते हैं। हमारे सिद्धान्त इस संसार का वैसा ही वर्णन करने का दावा करते हैं जैसा हम उसे अनुभव करते हैं, और उनकी वैधता का प्रमाण-चिन्ह उस संसार की भविष्य की अवस्थाओं का सही वर्णन तथा भविष्यवाणी करने की उनकी सामर्थ्य है।

एक मिसाल - आनुवंशिकता

जैव-विकास के सिद्धान्त का प्रारम्भिक इतिहास इन प्रक्रियाओं का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राकृतिक चुनाव पर आधारित डार्विन का जैव-विकास का सिद्धान्त जीवविज्ञान में एक महत्वपूर्ण ढाँचागत सिद्धान्त है (वास्तव में तो क्वांटम भौतिकी के बाद यह विज्ञान का दूसरा सबसे सफल सिद्धान्त है)। लेकिन वास्तविक संसार में इसका कार्य वंशजता की एक ऐसी प्रक्रिया (मेकैनिज़म ऑफ इन्हेरिटेंस) पर निर्भर है जिससे वो प्रभाव पैदा हो सकें जिनका डार्विन ने निष्कर्ष निकाला था। अपने सिद्धान्त के इस विशेष हिस्से ने डार्विन को काफी अधिक दिक्कत में डाला था और उन्हें काफी आलोचना का भी सामना करना पड़ा था। उन्होंने *ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज़* के पहले संस्करण से दूसरे तक पहुँचने के दौरान अपना मन बदला और अन्त में वंशजता के उस रूप पर आ कर ठहरे जिसे उन्होंने *पैंजेनेसिस* का नाम दिया। इस सिद्धान्त के मुताबिक शरीर की प्रत्येक कोशिका अपना बहुत ही छोटा-सा प्रातिनिधिक अंश शुक्राणु या अण्डे के लिए योगदान में देती है और माँ-बाप द्वारा किए गए योगदान गर्भधारण के समय एक-दूसरे के साथ मिश्रित हो जाते हैं।

डार्विन शायद ही इससे अधिक गलत हो सकते थे। वास्तव में तो उनके कई समकालीनों को यह स्पष्ट था कि वंशजता का उनका सिद्धान्त घातक रूप से दोषपूर्ण था - इसके फलस्वरूप व्यक्ति विशेषों में सब प्रकार के अन्तर जल्दी ही समाप्त हो जाएँगे जबकि प्राकृतिक चुनाव का डार्विनियन

मेण्डल का प्रयोग व अवलोकन

मेण्डल भाग्यशाली थे कि उन्होंने मटर के पौधे ही चुनेः इनकी आनुवंशिकता बहुत ही सरल होती है। यदि मेण्डल ने यही प्रयोग इन्सानों पर किए होते तो वैसे ही प्रभाव सिद्ध करने में उन्हें काफी अधिक मुश्किल होती। हालाँकि इन्सान की चमड़ी का रंग भी विशेष जीन्स के माध्यम से सीधे मेण्डेलियन तरीके द्वारा निर्धारित होता है, मटर के पौधों के मुकाबले यहाँ कई अन्य जीन्स की भी भागीदारी होती है। तकरीबन आठ विभिन्न जीन्स के प्रभावों को इकट्ठा जोड़ने का नतीजा इन्सानों में रंगों के विभिन्न शेड (गहरा या हल्कापन) के रूप में सामने आता है। इससे लगता है कि रंगों का मिश्रण ही हो रहा है, जैसा कि डार्विन मान कर चले थे, लेकिन यह तो केवल ऊपरी तौर पर दिखने वाला प्रभाव है। चमड़ी के रंग को तय करने वाले कारक (या जीन्स) बने रहते हैं और बिना अपना रूप-स्वरूप बदले अगली पीढ़ी तक जा सकते हैं।

सिद्धान्त इन्हीं अन्तरों पर निर्भर करता था। अन्त में भ्रूणविज्ञान तथा आनुवंशिक विज्ञान के क्षेत्रों में किए गए आधी सदी के सघन कार्य ने पैंजेनेसिस के तर्काधार को पूरी तरह से कमज़ोर कर दिया। इसी के फलस्वरूप डार्विन के जैव-विकास के सिद्धान्त का महत्व उन्नीसवीं सदी के अन्त के आते-आते घटता चला गया। लेकिन सन् 1900 में पौधों सम्बन्धी वंशानुक्रमण पर मेण्डल द्वारा किए गए काम ने डार्विन के सिद्धान्त में फिर से दिलचस्पी जगा दीः डार्विन के जीव विकास के सिद्धान्त को सफल बनाने के लिए मेण्डल के वंशानुक्रमण सिद्धान्त की ही आवश्यकता थी। मेण्डल ने मटर के पौधों पर किए गए विस्तृत अध्ययन के आधार पर दिखा दिया था कि बीज का रंग तथा बुनावट जैसी विशेषताएँ एक खास तरह से ही विरासत में पाई जाती हैंः हरे या पीले बीजों वाले पौधों के संकरण (क्रॉसिंग) द्वारा उत्पन्न बीज हरे होते हैं या फिर पीले, वे कभी भी दोनों रंगों का मिश्रण नहीं होते। इसके अलावा, इस प्रकार के अन्तर-प्रजनन (क्रॉस

फर्टिलाइज़ेशन) से उत्पन्न सन्तान में हरे तथा पीले बीज हमेशा एक ही अनुपात में होते हैं। मेण्डल ने निष्कर्ष निकाला कि ये विशेषताएँ ऐसे कारकों (जिन्हें हम अब जीन्स - यानी आनुवंशिक रूप - कहेंगे) द्वारा तय की जाती हैं जो गर्भधारण के समय माता-पिता से बच्चों में आ जाते हैं, और पीला तथा हरा रंग बीज के रंग के कारक के ही विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कारक यूँ के यूँ जनक पौधों से विरासत में लिए जाते हैं और अगली पीढ़ी की सन्तान तक आगे जाते हैं।

इस प्रकार डार्विन का प्राकृतिक चुनाव द्वारा जैव-विकास सम्बन्धित ढाँचागत सिद्धान्त समूचा बना रहा (हालाँकि उस पर चर्चा कम विस्तार से हुई)। यह इस बात के बावजूद था कि वंशानुक्रमण की विधि के लिए दिए गए सहायक सिद्धान्त में समस्याएँ थीं। पॉपर के मिथ्याकरण (फॉल्सिफिकेशन) सिद्धान्त को भोले या सरल तरीके से लागू किया जाता तो डार्विन के सिद्धान्त को शायद 1870 के दशक में पूरी तरह त्याग दिया जाता। उसका पूर्ण रूप से न त्यागा जाना कुछ हद तक (कम-से-कम कुछ जीव विज्ञानियों द्वारा) इस बात की अन्तर्निहित पहचान की वजह से हुआ कि यह सिद्धान्त असल में दो बिलकुल अलग-अलग भागों में है: प्राकृतिक चुनाव तथा जैव-विकास की प्रक्रियाओं के बारे में सिद्धान्त (जो मूलतः सही प्रतीत होता था) तथा वंशानुक्रमण की क्रियाविधि का सिद्धान्त (जो गलत प्रतीत हो रहा था)। यह अस्पष्टता तथा गड़बड़ इस कारण से थी कि स्वयं मेण्डल समेत वंशानुक्रम की क्रियाविधि में दिलचस्पी लेने वाले बहुत-से लोग यह समझ रहे थे कि वे जैव-विकास की प्रक्रियाओं का (यानी प्राकृतिक चुनाव के एक विकल्प का) अध्ययन कर रहे हैं। सम्पूर्ण सिद्धान्त के तार्किक ढाँचे को सीधा किए जाने पर ही स्पष्ट हो पाया कि हल क्या था।

(...जारी)

रॉबिन डनबार: यूनिवर्सिटी ऑफ ऑक्सफोर्ड में सोशल एंड एवोल्यूशनरी न्यूरोसाइंस रिसर्च ग्रुप, एक्सपेरीमेंटल सायकोलॉजी विभाग के विभागाध्यक्ष हैं और एवोल्यूशनरी साइकोलॉजी के प्राध्यापक हैं। बहुत-सी शैक्षिक पुस्तकें लिखी हैं और दो साल विज्ञान लेखन भी किया है।
अँग्रेज़ी से अनुवादः रमणीक मोहन।

यह लेख रॉबिन डनबार की किताब *दी ट्रबल विद साइंस*, फेबर एंड फेबर, 1995, से लिया गया है।

आप इस लेख को एकलव्य द्वारा विज्ञान शिक्षण पर तैयार की जा रही पुस्तक के अन्तर्गत भी पढ़ सकेंगे।

सृजन में भाषा बाधा नहीं बनती

एक सिरिंज पर वार्निश चढ़े ताँबे के तार के 500 घेरे लपेट कर तार के दोनों सिरों पर एल.ई.डी. लगाइए। सिरिंज का पिस्टन निकाल कर भीतर थोड़ी-सी रुई रखिए फिर नियोडायनियम का ताकतवर चुम्बक सिरिंज के भीतर रखकर, अँगूठे से सिरिंज का मुँह बन्द करके, सिरिंज को आगे-पीछे हिलाइए और देखिए क्या एल.ई.डी. जल रहा है?

संदर्भ मराठी एवं गुजराती भाषा में भी उपलब्ध है

सम्पर्क कीजिए

संदर्भ (मराठी)

शैक्षणिक संदर्भ - संदर्भ सोसायटी
c/o समुचित इन्वायरो टेक प्राइवेट लिमिटेड,
फ्लेट न. 06, एकता पार्क को-ऑप हाउसिंग सोसायटी, निर्मिति शोरूम के पीछे,
अभिनव हाई स्कूल के पास, लॉ कॉलेज रोड,
पुणे 411004, फोन: 020 - 25460138
ई-मेल: sandarbh.marathi@gmail.com

संदर्भ (गुजराती)

नचिकेता ट्रस्ट
आर्च दवाखाना के पास, नगारिया,
धरमपुर, ज़िला वलसाड,
गुजरात 396050
फोन: 02633 - 240409

भाग-2

क्या समझ से पढ़ना बच्चों को सिखाया जा सकता है?

कीर्ति जयराम

बच्चों को अर्थपूर्ण तरीकों से पढ़ने की प्रक्रिया से जोड़ने के लिए हमें यह समझना चाहिए कि पढ़ने से पहले, पढ़ने के दौरान और पढ़ने के बाद हम कई ऐसी चीज़ें कर सकते हैं जो बच्चों को सक्रिय, उद्देश्यपूर्वक और सार्थक ढंग से पढ़ने में मदद दे सकती हैं। इन्हें समझ से पढ़ने की रणनीतियाँ (comprehension strategies) कहा जाता है। इनके प्रयोग से बच्चों को सक्रिय रूप से समझ से पढ़ने की विविध रणनीतियों का इस्तेमाल करना सिखाया जाता है। शोधकार्य द्वारा यह साबित किया गया है कि ये रणनीतियाँ पठन सामग्री की समझ बढ़ाने के लिए बहुत फायदेमन्द हैं। हमारे देश में अधिकतर बच्चे यांत्रिक रूप से और बिना समझ के पढ़ते पाए गए हैं। इसलिए हमें चिन्तन करने की आवश्यकता है कि इन रणनीतियों का उपयोग हम अपने सन्दर्भ में कैसे करेंगे।

इन तरीकों से पाठकों को किसी पाठ के साथ ज़्यादा गहराई से और सोच-समझ कर जुड़ने में काफी मदद मिलती है। अध्यापक भी चाहें तो ऐसे तरीकों की तलाश कर सकते हैं जिनसे शब्दों के स्तर पर या पाठ के स्तर पर समझने की क्षमता विकसित करने में मदद मिलती है।

पढ़ने से पहले की रणनीतियाँ

पढ़ने का उद्देश्य तय करें

बच्चे किसी पाठ या कहानी को पढ़ना शुरू करें, इससे पहले उन्हें यह सोचने में मदद की जा सकती है कि वे क्यों पढ़ रहे हैं। हर बच्चे को यह बात अच्छी तरह समझ में आनी चाहिए। इससे उन्हें उस पाठ को ज़्यादा दिलचस्पी के साथ और ध्यान से पढ़ने में मदद मिलती है। शुरुआत में अध्यापकों को खुद पढ़ने का एक उद्देश्य तय करना चाहिए और उसे स्पष्ट रूप से बच्चों को बताना चाहिए ताकि धीरे-धीरे वे स्वयं ही अपने पढ़ने के उद्देश्य तय करना सीख जाएँ। उसके लिए बच्चों से ऐसे कुछ सवाल पूछे जा सकते हैं:

- क्या तुम यह जानने के लिए पढ़ रहे हो कि इस कहानी में क्या होता है?
- क्या तुम यह देखने के लिए पढ़ रहे हो कि यह कहानी तुम्हारे अनुभवों या भावनाओं से जुड़ी हुई है या नहीं?
- क्या तुम खास जानकारियाँ हासिल करने के लिए पढ़ रहे हो?
- क्या तुम लेखक द्वारा दिए गए ब्यौरों का मज़ा लेने के लिए पढ़ना चाहते हो?
- क्या तुम पढ़ने के बाद कोई अभ्यास या टास्क पूरा करने के लिए पढ़ना चाहते हो?

इसके अलावा भी पढ़ने की बहुत सारी वजहें हो सकती हैं।

पाठ (संरचना) पर नज़र डालना

बच्चे पढ़ना शुरू करें, उससे पहले उन्हें उस लेख के शीर्षक, तस्वीरों, विषय सूची, रेखाचित्रों, चित्रों के नीचे लिखे कैप्शन्स, शीर्षकों, गाढ़े अक्षरों, मुख्य शब्दों और अन्य चित्रात्मक चीज़ों को अच्छी तरह देखना चाहिए। विशेषतौर से जब बच्चे कोई जानकारी-युक्त पाठ पढ़ते हैं तो इन सब से बहुत मदद मिलती है। छोटे बच्चे तेज़ी से यह बात सीख लेते हैं कि पाठ संरचना का जायज़ा लेने से उन्हें उसकी विषयवस्तु को जानने में मदद मिलती है। इससे उन्हें यह पता लगाने में भी मदद मिलती है कि उस लेख में कौन-सी जानकारी कहाँ मिल सकती है। अगर वे कोई कहानी पढ़ रहे हैं तो उसकी बुनावट या तस्वीरों को देखने से उन्हें कहानी को सुनाने में काफी मदद मिलेगी।

अपने पूर्वज्ञान को सक्रिय करना

सामान्य पाठक लिखे हुए शब्दों को अपने अनुभवों और ज्ञान के साथ जोड़ कर ही उसका अर्थ गढ़ते हैं। सबसे पहले बच्चों को यह समझाना फायदेमन्द रहता है कि जब हम पढ़ी जा रही चीज़ को अपनी पहले की जानकारियों और समझ के साथ जोड़ते हैं तो इससे हमारी समझदारी में कितना इज़ाफा होता है। उन्हें इस बारे में सोचने के लिए प्रोत्साहित करें कि वे जो चीज़ पढ़ने जा रहे हैं, उसके बारे में या उससे मिलती-जुलती चीज़ों के बारे में वे पहले से क्या जानते हैं और उससे जुड़े विभिन्न प्रकार के शब्दों और अर्थों के बारे में उनकी जानकारी कितनी है। पृष्ठभूमि ज्ञान को सक्रिय करने के लिए अध्यापक बच्चों से इस तरह के सवाल पूछ सकते हैं: "तुम ... के बारे में क्या जानते हो?", "यह तुम्हें किस चीज़ की याद दिलाता है?" या "क्या तुमने पहले भी कभी यह शब्द पढ़ा या सुना है?", "तुम्हारे हिसाब से... का क्या मतलब है?"

पढ़ने से पहले इस तरह की चर्चा या सोच-विचार से ऐसे बच्चों को भी काफी मदद मिलती है जिनके पास उस विषय के बारे में पहले से कोई जानकारी नहीं है। इस चर्चा में उन्हें दूसरे बच्चों की बातें सुनकर नया

ज्ञान मिलता है और इस तरह उनके लिए भी उस लेख को समझना आसान हो जाता है।

अन्दाज़ा लगाना

बच्चों से यह सोचने के लिए कहा जा सकता है कि आगे कहानी में क्या कुछ हो सकता है, कौन-से शब्दों का इस्तेमाल हो सकता है, या लेख के शीर्षक से उन्हें क्या लगता है कि उसमें किस तरह की जानकारियाँ होंगी आदि। बाद में जब वे पढ़ने लगें तो उन्हें यह जाँचने के लिए कहें कि उनका अन्दाज़ा सही निकला या नहीं। बच्चों को ध्यानपूर्वक पढ़ने की आदत सिखाने के लिए यह एक बहुत ही उपयोगी रणनीति है।

सवाल पूछना

बच्चों को किताब या कहानी के शीर्षक, कवर पेज और तस्वीरों को ध्यान से देखने के लिए कहा जा सकता है। इसके बाद इनसे जुड़े मन में उठ रहे सवाल पूछने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है। बेहतर यह है कि वे इन सवालों को या तो कहीं लिख लें या उन्हें अच्छी तरह दिमाग में सुरक्षित कर लें और फिर पढ़ते समय देखें कि उनके क्या जवाब मिलते हैं।

पढ़ते समय की रणनीतियाँ

शब्दों की बुनावट और अर्थ

बच्चों को अकेले या जोड़ों में पढ़ते समय अनजाने या कठिन शब्दों को पहचानने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। पढ़ने के साथ-साथ वे ऐसे शब्दों के नीचे लकीर खींच सकते हैं। अगले दिन उन्हें इन शब्दों को गौर से पढ़ने और समझने के लिए मदद दी जाती है। पहले उन्हें शब्द के अलग-अलग हिस्सों का उच्चारण सिखाया जाता है और फिर इन्हें आपस में जोड़कर पूरे शब्द को पढ़ना। शब्दों को समझते हुए पढ़ने के लिए प्रवाह बहुत आवश्यक होता है। फिर बच्चों को उनके द्वारा रेखांकित शब्द का अर्थ स्वयं खोजने में मदद दी जाती है। वे वाक्य में दिए गए दूसरे शब्दों के आधार पर अनजान शब्दों का अर्थ समझने की कोशिश करते हैं। उन्हें अपने दिमाग में सूझ रहे अर्थों को जाँचने में मदद देने के लिए शिक्षक कुछ इस तरह के सवाल पूछ सकते हैं: "क्या यह शब्द यहाँ सही लग रहा है? इससे वाक्य का क्या अर्थ स्पष्ट हो रहा है?" बच्चों के लिए अहम बात यह है कि वे अनजान शब्दों को पहचानने और उनका अर्थ जानने की पूरी समस्या-समाधान प्रक्रिया में सक्रिय हिस्सेदार बनें। यह ज़रूरी है कि इस तरह की शब्द अध्ययन की रणनीतियों का उपयोग पाठकों की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए शिक्षिका द्वारा कराया जाए। हर बार कराने से यह एक नीरस, बेजान और यांत्रिक प्रक्रिया बन सकती है।

अन्दाज़ा लगाना और उसकी पुष्टि

पढ़ने के दौरान समय-समय पर ठहर कर बच्चों को इस तरह के सवाल

पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है: "अब आगे क्या पढ़ने को मिलेगा?", "मेरे खयाल से अब क्या होने वाला है?", "ऐसा क्यों हुआ है?" या "क्या मुझे मेरे सवालों के जवाब मिल रहे हैं?"

जब बच्चे पढ़ रहे हों तो उनके अब तक के अन्दाज़ों को वे जाँचते हैं जिससे यह पता लग सके कि कौन से अन्दाज़े सही निकले और कौन से सही नहीं रहे। वे एक-दूसरे के अन्दाज़ों को भी जाँचते हैं। इससे लिखित सामग्री में उनकी दिलचस्पी बढ़ेगी; वे एक-दूसरे की अलग-अलग सोच से परिचित होते हैं और साथ में वे ज़्यादा गौर से पढ़ने लगते हैं।

कल्पना करना

बच्चों को कोई कहानी पढ़कर सुनाते समय बीच में किसी रोचक बात पर रुककर शिक्षक बच्चों से पूछ सकते हैं कि उस कहानी के बारे में उनके दिमाग में क्या चल रहा है या कौन-सी तस्वीरें बन रही हैं। पढ़ने के पश्चात् उनकी दिमाग की नज़र से दिखाई दे रही चीज़ों की तस्वीर बनाने और एक-दूसरे की तस्वीरों की तुलना करने के लिए भी कह सकते हैं। बच्चों से अपनी भावनाओं और सोच पर चर्चा करने के लिए भी कहा जा सकता है। इस तरह कल्पनाएँ करने से बच्चों को उन चीज़ों के साथ और गहरे सम्बन्ध बनाने में मदद मिलती है जिनके बारे में वे पढ़ रहे हैं। उनसे कल्पना करते हुए अपनी अलग-अलग इन्द्रियों का प्रयोग करने के लिए कहा जा सकता है – आपको मन में क्या दिख रहा है? कैसा महसूस हो रहा है? किस तरह की खुशबू आ रही है? सही समय पर इस प्रकार के सवाल पूछकर कहानी, कविता या चित्र-पुस्तक आदि को पढ़ते समय बच्चों के लिए जीवन्त बनाया जाता है। कल्पनाशीलता का बहुत असरदार ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखा जाए कि किसी भी रणनीति का उपयोग इतना बार-बार न किया जाए, जिससे वह बच्चों के लिए बोरियत पैदा करने लगे।

आगे बढ़ना, पढ़ते रहना, पीछे लौटना

बच्चों के समझते हुए पढ़ने के

अलीबाबा चालीस चौर

हमें अछी लगी जो सुरंग कि मंत्र से खुलती है छोटे भाई सुरंग कि बात बड़े भाई को बता देते है जिसे वो सुरंग के अदर चालीस चौर के हाथो मारा जाता है क्यों कि अली बाबा का बड़ा भाई लालची था उस बजे से मारा जाता है। इसलिए कहते है कि लालच बुरी बला है।

– अनिल कहार, आठवीं, शुक्करवाड़ा फार्म

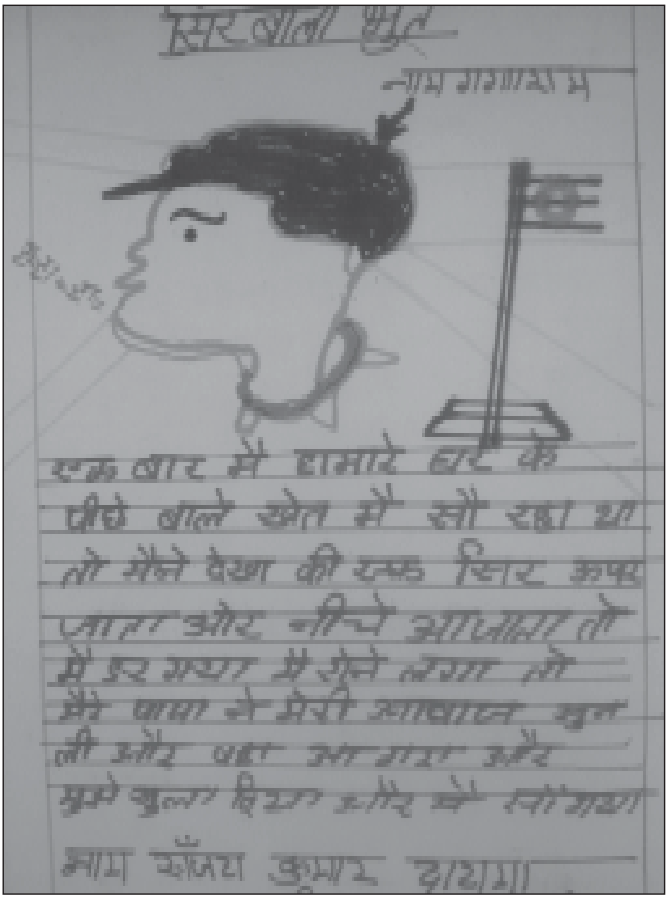

देख सकते हैं। या, जहाँ उन्हें भ्रम हो रहा है उस हिस्से को वे दोबारा पढ़ सकते हैं। इस तरह, जब वे समस्या को पहचान लें तो उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि अब उन्हें समस्या से निपटने के लिए क्या करना है (जैसे, समस्याप्रद शब्दों को दोबारा बोलने की कोशिश करना या दोबारा पढ़ना)।

कभी-कभी जब समस्या पैदा होती है तो बच्चे उस अनजान शब्द को बिना समझे पढ़कर आगे भी निकल सकते हैं। उस वाक्य या पैराग्राफ के आखिर तक पढ़ते जाएँ और सोचते रहें कि उस वाक्य या पैराग्राफ का क्या मतलब निकल रहा है। इसके बाद वे दोबारा उस वाक्य या पैराग्राफ की शुरुआत में जाएँ और फिर से उसे पढ़कर उस शब्द को समझने की कोशिश करें जो पहली बार उन्हें समझ में नहीं आया था। अगर वे अभी भी उस हिस्से को नहीं समझ पाते हैं तो उन्हें अपने किसी संगी-साथी, अध्यापक-अध्यापिका से उसके बारे में पूछना चाहिए।

सामर्थ्य में सुधार लाने के लिए ज़रूरी है कि उन्हें पढ़ते समय अपने ऊपर नज़र रखना सिखाया जाए ताकि वे रह-रहकर खुद पूछते रहें कि "मैं जो कुछ पढ़ रही हूँ, उसका कोई मतलब निकल रहा है या नहीं?" बच्चों को यह बात समझ में आनी चाहिए कि जब उन्हें कोई सामग्री बेतुकी दिखाई देती है तो वे क्या कर सकते हैं। अगर उन्हें कोई शब्द समझ में नहीं आ रहा है तो उसे ऊँची आवाज़ में बोल कर

अपनी पढ़ाई पर नज़र रखने के लिए पाठकों को दोबारा पढ़ने के दौरान रुक-रुक कर यह सोचना चाहिए कि अभी तक कहानी में क्या हुआ है या अभी तक इस पाठ में क्या जानकारियाँ मिल रही हैं।

लिखित सामग्री से पूर्वज्ञान का जुड़ाव

पढ़ने के दौरान, खास तौर से अगर कोई लिखित सामग्री लम्बी है तो उसे पढ़ने के दौरान, अध्यापक कुछ बिन्दुओं पर रुक कर बच्चों से इस बारे में सोचने के लिए कह सकते हैं कि यह सामग्री उन्हें किन चीज़ों की याद दिला रही है। उनसे यह सोचने के लिए कहा जा सकता है कि उस विषय या कहानी के बारे में वे पहले से क्या जानते हैं या यह लेख उन चीज़ों से किस तरह मिलता-जुलता लग रहा है जिसे वे पहले से जानते हैं या, क्या इसमें उन्हें कोई फर्क दिखाई दे रहा है। व्यक्तिगत स्तर पर कहानी, कविता या कोई अन्य लेख को अपने अनुभव और ज्ञान के साथ जोड़ने से हर पाठक के लिए वह पाठ और अधिक अर्थ-भरा बन जाता है। धीरे-धीरे अभ्यास के ज़रिए बच्चे इस रणनीति को अपने आप भी इस्तेमाल करना शुरू कर देते हैं।

लेख में छुपे निष्कर्ष

बच्चों को यह सोचने के लिए भी मार्गदर्शन दिया जाता है कि वे जो कुछ पढ़ रहे हैं उनमें कौन-सी जानकारियाँ प्रत्यक्ष रूप से दी जा रही हैं। फिर उन्हें इस बारे में सोचने के लिए मदद दे सकते हैं कि इस चीज़ को पढ़ने से उनको जो जानकारी मिली है उनमें से कौन-सी बातें हैं जो सीधे-सीधे शब्दों में नहीं कही गई हैं। मिसाल के तौर पर, किसी पात्र की हरकतों से उसकी भावनाओं का क्या पता चलता है या लेखक द्वारा दिए गए संकेतों के आधार पर कौन-सी घटना की क्या वजह रही होगी। इस तरह की प्रक्रिया में जुड़ने से छोटे बच्चों को लिखे हुए शब्दों के पार जाने और सोचकर निष्कर्ष निकालने में मदद मिलती है जो उस लिखित सामग्री के अर्थ को और बढ़ा देते हैं। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित दो वाक्यों को लीजिएः

"वहाँ बहुत कीचड़ था। बहुत सारे लोग छाता लेकर चल रहे थे।"

हालाँकि, सीधे-सीधे नहीं कहा गया है मगर समझदार पाठक इन वाक्यों के आधार पर आसानी से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यहाँ बारिश का ज़िक्र किया जा रहा है।

पढ़ने के बाद

अपने शब्दों में सुनाना

बच्चों से कहा जाए कि कहानी में जो कुछ हुआ है वे उसे किसी को सुनाएँ या अपने शब्दों में लिखकर देखें। इसमें उन्हें महत्वपूर्ण पात्रों, कहानी के प्लॉट और अहम घटनाओं, सबके बारे में बताना या लिखना चाहिए। अगर बच्चों ने कोई गैर-कथा

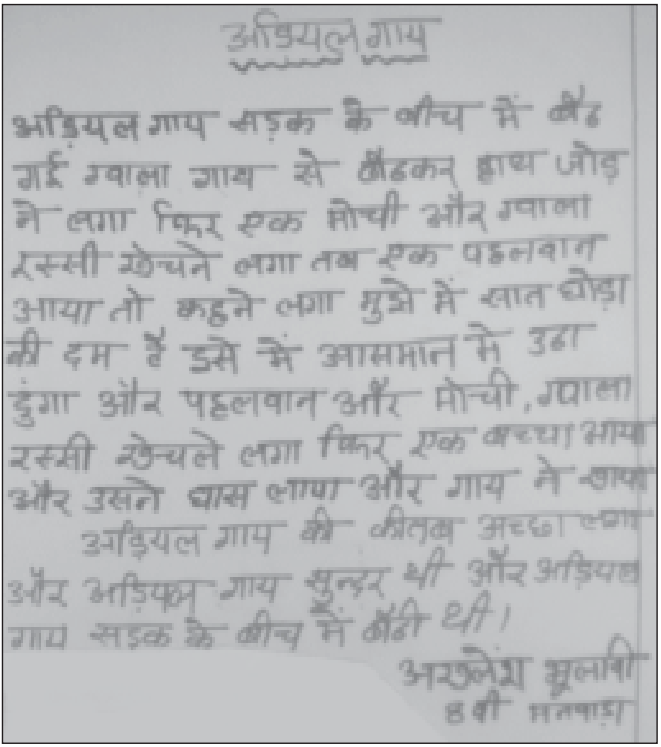
अड़ियल गाय

अड़ियल गाय सड़क के बीच में बैठ गई ग्वाला गाय से हटकर हाथ जोड़ने लगा फिर एक सोची और ग्वाला रस्सी खेंचने लगा तब एक पहलवान आया तो कहने लगा मुझे में सात घोड़ा की दम है इसे मैं आसमान में उठा दुंगा और पहलवान और सोची, ग्वाला रस्सी खेंचने लगा फिर एक बच्चा आया और उसने घास लाया और गाय ने खाया अड़ियल गाय की लीला अच्छा लगा और अड़ियल गाय सुन्दर थी और अड़ियल गाय सड़क के बीच में बैठी थी।

अखिलेश सूलाखी
8 वी मनवाड़

साहित्य रचना पढ़ी है तो इस बात की समीक्षा करना फायदेमन्द रहता है कि उसमें क्या मुख्य जानकारियाँ पेश की गई हैं।

सार-संकलन करना

पाठकों को किसी पाठ में दिए गए सबसे महत्वपूर्ण विचारों को पहचानने और उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त करने का हुनर सिखाना ज़रूरी है। सार-संकलन करते हुए बच्चों को गैर-ज़रूरी जानकारियों को छोड़कर सिर्फ प्रमुख बिन्दुओं को इकट्ठा करने का कौशल सिखाया जाता है।

चित्र संयोजक यानी ग्राफिक ऑर्गेनाइज़र

पढ़ाई खत्म करने के बाद बच्चों को एक कथा-मानचित्र (स्टोरी मैप), जीवनी चक्र (बायोग्राफी व्हील), वेन डायाग्राम, शब्दार्थ चित्र (सीमेंटिक मैप) या फ्लो चार्ट अथवा कोई और ऐसा डायग्राम दिया जा सकता है जिसमें बच्चे यह दिखा सकें कि अभी उन्होंने जो पढ़ा है उसमें क्या-क्या बातें शामिल थीं।

निष्कर्ष निकालना

बच्चों से इस बारे में सोचने के लिए कहा जा सकता है कि उन्होंने पढ़ने से पहले और पढ़ने के दौरान क्या अन्दाज़े लगाए थे। यहाँ वे इस बारे में विचार कर सकते हैं कि उनके सवालों के जवाब मिले या नहीं अथवा उनके अन्दाज़े सही निकले या नहीं। उनसे यह भी पूछा जा सकता है कि क्या उनके पास उस विषय में अभी और भी सवाल हैं।

दोबारा पढ़ना

किसी भी लिखित सामग्री, चाहे वह कहानी हो या जानकारी-युक्त लेख, उसको और अच्छी तरह से समझने के लिए बच्चों से उसे दोबारा

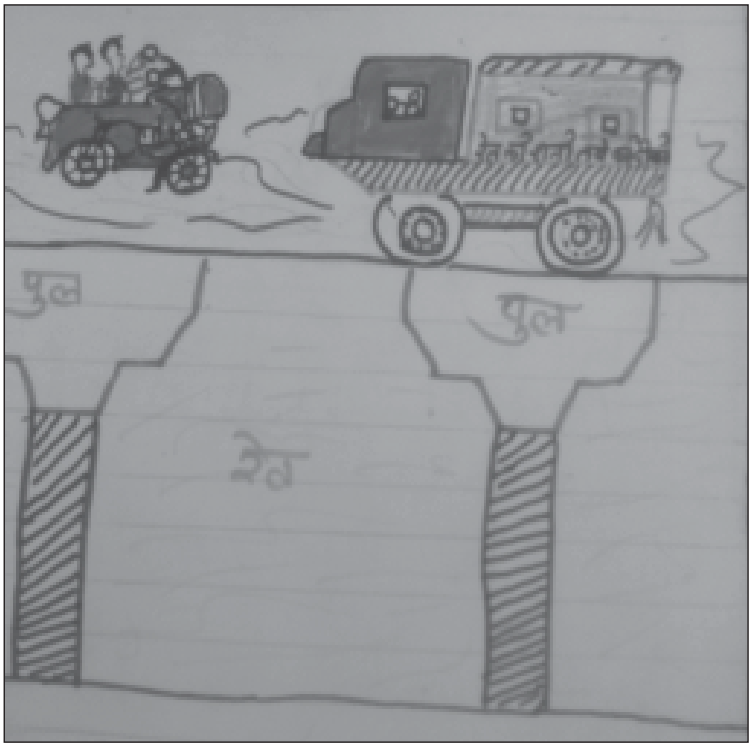

दुर्घटना

एक बार की बात है कि पिछले सप्ताह हमारे सर रामकरन के साले अमित उनके घर आए थे जब वह लौटकर उनके घर मालाखेड़ी जा रहे थे तब बीच तवापुल पर उनका एक्सीडेंट ट्रक से हो गया। वह दो आदमी थे उनका एक्सीडेंट ट्रक से टकराकर हो गया। और उनकी मृत्यु हो गई और दूसरा भाग गया, उसका अभी तक पता नही है, ट्रक बाला भी भाग गया उनकी सरकारी नौकरी थी तो उनको क्रिया-क्रम के लिए अस्सी हजार रुपए मिले।

– चंदन यादव, आठवीं, नसीराबाद

पढ़ने के लिए भी कहा जा सकता है। अगर वे चाहें तो उस सामग्री के केवल किसी खास हिस्से को ही दोबारा पढ़ लें।

चर्चा करना और जवाब देना

बच्चों ने जो पढ़ा है, उसके बारे में उन्हें अपने आसपास किसी-न-किसी से बात करने के लिए कहें। उनको

एक-दूसरे से सवाल पूछने और अपने जवाब या राय की हिमायत में किताब से मदद लेने के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

पढ़ने के उपरान्त सोच-विचार

पाठक इस बारे में लिख सकते हैं कि उन्होंने क्या पढ़ा है। इस प्रक्रिया में वे अपनी प्रतिक्रिया दे सकते हैं, यानी यह बता सकते हैं कि उस सामग्री से उनके दिमाग में क्या ख्याल आए; पढ़कर उन्हें कैसा महसूस हुआ; कौन से हिस्से थे जो उन्हें अपनी ज़िन्दगी जैसे लगे और कौन से हिस्से थे जो उन्हें पसन्द नहीं आए या जो उन्हें समझ में नहीं आए। जवाब देते समय पाठक जैसी चाहे राय दे सकते हैं। उन्हें उस सामग्री को अपनी सोच, विचारों और अनुभवों के साथ किसी भी तरह जोड़ने की आज़ादी दी जाती है। सूचना आधारित सामग्री के मामले में वे यह भी लिख सकते हैं कि उस सामग्री से उन्होंने क्या जाना या वह पाठ किन मायनों में उनकी अब तक की जानकारियों से अलग था। साहित्यिक और सूचना आधारित, दोनों तरह की सामग्रियों के मामले में पाठकों को अपने निजी अनुभवों, सोच और भावनाओं से जोड़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है ताकि वे उस पाठ के साथ अपने ज़हन में कुछ सम्बन्ध बना सकें, और उसे अपनी सोच में उतार लें।

पढ़ने के बाद लिखकर या चित्र बनाकर प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त की जा सकती हैं।

कुछ महत्वपूर्ण अर्थ-ग्रहण रणनीतियाँ

नैशनल पैनल फॉर रीडिंग रिपोर्ट, 2000 में कुछ अर्थ ग्रहण रणनीतियाँ

बबूल का पेड़

हमारे घर के साम ने एक बहुत प्यारा बबूल का पेड़ है रात में सोजाता है और सुबह सब से पहले उठ जाता बबूल का पेड़ छाया देता ठंडी ठंडी हभा देता है।

– संजू मीना, आठवीं, मुढ़ापार

दूसरो की भलाई

एक दिन बहुत ठंड थी तब हम को एक चिडिया ठंड से अकड़ी हुई पड़ी मिली हमने उस चिड़िया को घर पर ले आए हम ने चिड़िया को आग के पास बिठाल दिया उसकी धीर धीरे ठंड दूर होती गई फिर वह चिड़िया फुर से उड गई इस कहानी से हमे यह सींख है कि दूसरों की भलाई करना ही सच्चा धर्म है।

– अमित मीना, मुढ़ापार

सुझाई गई हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण रणनीतियाँ इस प्रकार हैं:

- अन्दाज़ा लगाना/पूर्व ज्ञान को सक्रिय करना (जुड़ाव पैदा करना)
- खुल कर सोचना और अपनी सोच को प्रकट करना
- पाठ संरचना का प्रयोग करना
- ज़हन में छवि बनाना
- ग्राफिक आर्गेनाइज़र्स का प्रयोग करना
- सार-संकलन करना
- सवाल/पूछना

साथ ही यह समझना फायदेमन्द होगा कि इनमें से कोई भी रणनीति एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं चलती। जब हम पढ़ते हैं और किसी लिखित सामग्री के साथ गहरा सम्बन्ध विकसित कर रहे होते हैं तो इनमें से दो या तीन अलग-अलग रणनीतियाँ एक साथ काम करती हैं। इसका मतलब है कि पाठकों को किसी भी लेख या कहानी को देखकर पढ़ने से पहले उस पर सवाल पूछना या अन्दाज़ा लगाना सुझाया जा सकता है। पढ़ते समय उन्हें किसी सम्बन्धित अनुभव या मिलती-जुलती कहानी या पाठ के साथ जुड़ने के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकता है जिसे वे पहले पढ़ चुके हैं। अन्त में, बच्चों को इस बात का एहसास कराया जाना चाहिए कि सवाल पूछने और उस सामग्री के साथ खुद को जोड़ने से उन्हें कहानी या पाठ की गहरी समझ हासिल करने में किस तरह की मदद मिलती है।

विकसित क्षमताएँ

अर्थ ग्रहण रणनीतियाँ सिखाने से पाठकों को कुशल और स्वनियमित पठन क्षमता विकसित करने में मदद मिलती है। इसका मतलब यह है कि वे अपनी अर्थ-ग्रहण प्रक्रिया पर नज़र रख सकते हैं। इससे उन्हें यह पता रहेगा कि कब उन्हें पढ़ा हुआ समझ में आ रहा है और कब पढ़ा हुआ समझ में नहीं आ रहा है। इस तरह के पाठक समझने की कोशिशों में समस्या पैदा होते ही समस्या को 'हल' करने की रणनीतियाँ ढूँढ़ने में भी सक्षम होते हैं। प्री-स्कूल या शुरुआती कक्षाओं के बहुत छोटे बच्चों को भी अपनी अर्थ-ग्रहण क्षमता पर नज़र रखने के लिए मदद दी जा सकती है। जब बच्चे समझने की अपनी दक्षताओं पर नज़र रखना सीख जाते हैं तो उनके पास ये क्षमताएँ हो सकती हैं:

- जो समझ में आ रहा है, उसके प्रति सचेत रहना।
- यह पहचानना कि वे क्या नहीं समझ पा रहे हैं।
- कठिन वाक्यों या पाठों को अपने शब्दों में कह पाना।
- पाठ में पीछे लौट कर देखना।
- पाठ में आगे जाकर ऐसी जानकारियाँ ढूँढ़ना जो उनकी कठिनाई को दूर करने में मददगार हो सकती हैं।
- समझ से पढ़ने की समस्याओं को हल करने के लिए उपयुक्त रणनीतियों का प्रयोग करना।

अर्थ-ग्रहण रणनीतियाँ सिखाने से

पाठकों को यह सोचने में मदद मिलती है कि वे किस तरह पढ़ते हैं और अपनी पढ़ने की प्रक्रिया को कैसे सम्भाल सकते हैं। पढ़ने के बारे में सोचना, पढ़ते समय सोचने से अलग क्रिया है। पढ़ने के बारे में सोचने के समय पाठक पढ़ी जा रही सामग्री के साथ अपने सम्बन्धों के प्रति सचेत होता है; वह सवाल पूछने और जवाब ढूँढ़ने तथा उस पाठ को और गहरे स्तर पर समझने के तरीके ढूँढ़ने की सचेत चेष्टा करता है। इससे पाठकों को अपनी पढ़ने की क्रिया पर नियंत्रण मिलता है। इस तरह 'सोचने के बारे में सोचना' मैटाकॉगनीशन या परा-संज्ञानात्मक क्रिया कहलाती है।

अर्थ-ग्रहण रणनीतियाँ कैसे पढ़ाना?

अर्थ-ग्रहण रणनीतियाँ पढ़ाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि अध्यापक उच्चारित पठन और अपनी देखरेख में पढ़ाने (गाईडड पठन) की गतिविधि के दौरान अलग रणनीतियों को स्वयं दर्शाएँ और समय-समय पर इन पर बच्चों से चर्चा करें और इन्हें अपनाने के लिए प्रेरित करें। पढ़ने के एक ही सत्र के दौरान अर्थ-ग्रहण प्रक्रिया पर नज़र रखने की अलग-अलग रणनीतियों का सहारा लिया जा सकता है। पाठकों को पहले से ही कुछ सवाल खड़े करके पढ़ना और उसके बाद उन सवालों के जवाब ढूँढ़ने के लिए पढ़ने का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। पाठकों को बताया जा सकता है कि पढ़ने से पहले पाठ के बारे में सवाल खड़े करने के लिए क्यों, क्या, कहाँ आदि शब्दों का कैसे प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कहानी को यही शीर्षक क्यों दिया गया? या, कहानी हमें कहाँ लेकर जा रही है? या, कवर के चित्र में कुत्ता क्यों खुश था? पढ़ने से पहले किताब में दी गई तस्वीरों को देखने यानी 'पिक्चर वॉक' से तस्वीरों के आधार पर भी सवाल खड़े किए जा सकते हैं।

जिस समय पढ़ रहे हों, उस समय पाठकों को सक्रिय रूप से उन सवालों के जवाब ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है जो उन्होंने पढ़ने से पहले पूछे थे। पढ़ने के दौरान पाठकों को पाठ के कठिनाई स्तर के अनुरूप पढ़ने की रफ्तार को कम या ज़्यादा करके अपनी समझने की प्रक्रिया पर नज़र रखना भी सुझाया जा सकता है। उन्हें ये भी सलाह दी जा सकती है कि वे वापस जाकर उन हिस्सों को दोबारा पढ़ें जो उन्हें अच्छी तरह समझ में नहीं आ पाए हैं और उन्हें समझने में जो समस्याएँ रही हैं उन्हें 'हल' करने की कोशिश करें। पढ़ने के बाद पाठकों को अपने शब्दों में उस पाठ पर चर्चा करने या उसके अपने शब्दों में सुना कर अपनी समझ को जाँचने में भी मदद दी जा सकती है।

अन्त में

हर बच्चे में सीखकर खिलने की सम्भावना छुपी रहती है। बच्चों के लिए लिखना-पढ़ना तब मायने रखता है, जब वह उनके लिए अर्थपूर्ण,

उद्देश्यपूर्वक और रोचक हो। साथ में पढ़ने-लिखने की गतिविधियों को बच्चों की बोलने की भाषा और घरेलू जीवन की बातों से जोड़ने के कई प्रकार के सक्रिय मौके मिलें। जितना ज़्यादा बच्चे मन लगाकर और समझ से पढें और लिखें, उतना ज़्यादा उनकी पठन-लेखन की नींव मज़बूत बनती है। जिस तरह शुरुआती बालावस्था में नन्हे बच्चे अपने परिवार के सदस्यों से, और अपने आप से आदान-प्रदान करके खुद ही बोलना सीख जाते हैं, उसी तरह से यह देखा गया है कि बच्चों को जितने रोचक और उद्देश्यों से जुड़े लिखने-पढ़ने के मौके मिलते हैं, उतनी ही गहराई से वे इन प्रक्रियाओं से जुड़ जाते हैं। जिन बच्चों को शुरुआती बाल्यवस्था में घर पर लिखित माहौल नहीं मिलता है वे इस लाभ से वंचित रहते हैं। इस से उनके लिए स्कूल के लिखित माहौल से जुड़ना एक बहुत बड़ी चुनौती बन जाती है। इसके साथ इन बच्चों के घर और स्कूल के परिवेश और भाषा का अन्तर भी उनके लिए एक बहुत बड़ा फासला बन जाता है, जिसको पाटना काफी मुश्किल होता है। इन सब कारणों से उन्हें कक्षा के भीतर विशेष ध्यान की ज़रूरत रहती है।

इन सभी बातों को मद्देनज़र रखते हुए, राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्र में चलाई जा रही प्रारम्भिक साक्षरता की परियोजना के दौरान हमने पाया है कि इस प्रकार की अर्थ-ग्रहण रणनीतियाँ बहुत ही उपयोगी साबित हो रही हैं। हमारी सोच है कि आगे चलकर कुछ छोटी फिल्मों द्वारा हम अपने इन अनुभवों को आप सबसे बाँट सकें।

कीर्ति जयरामः ऑर्गेनाइज़ेशन फॉर अर्ली लिट्रेसी प्रमोशन (ओईएलपी) की सचिव और अर्ली लिट्रेसी प्रोजेक्ट (ईएलपी) की डायरेक्टर हैं। प्राथमिक शिक्षा और प्रारम्भिक साक्षरता के क्षेत्र में शिक्षक, शिक्षक प्रशिक्षक के रूप में काफी लम्बा अनुभव है।
अँग्रेज़ी से अनुवादः योगेन्द्र दत्त।

शिक्षकों की कलम से

विगत अंक से हमने एक नया कॉलम शुरू किया है जिसके माध्यम से शिक्षक एवं शिक्षक प्रशिक्षक अपने अनुभवों को साझा कर सकें। इस बार तीन अनुभव प्रस्तुत हैं। इन पर अपनी राय दीजिए। साथ ही, आपसे एक छोटी-सी अपेक्षा होगी कि आप अपने अनुभवों को भी हमारे पास ज़रूर भेजिए।

1. सर! आपने तो अपना परिचय!!!..... केवलानन्द काण्डपाल
2. बोलचाल की भाषा और मुहावरे..... अनिल सिंह
3. भोजन की थाली से..... मोहम्मद उमर

सर! आपने तो अपना परिचय दिया ही नहीं

केवलानन्द काण्डपाल

ज़िला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान में काम करते हुए हमें डायट मेंटर के रूप में विकास खण्डों में विद्यालयों का दौरा करने का निर्देश होता है। अपने इस दायित्व के क्रम में मुझे प्रारम्भिक विद्यालयों के बच्चों के साथ बातचीत करने के अवसर मिलते रहते हैं। ईमानदारी से बताऊँ तो बच्चों को समझने से ज़्यादा स्वयं को जानने, समझने के मौके मिलते हैं।

इस साल प्राथमिक विद्यालय, पुरडा, विकास खण्ड गरुड़ में जाने का अवसर मिला। संयोग से (यह सुखद संयोग नहीं है कि एकल अध्यापक/अध्यापिका पाँच कक्षाओं का संचालन कर रहे हों) सभी बच्चे एक बड़े-से कमरे में एक साथ बैठे मिल गए। वस्तुतः यह बहुकक्षीय-बहुस्तरीय कक्षा से मिलती-जुलती कोई व्यवस्था थी। मैंने और मेरे साथी डॉ. विमल किशोर ने बच्चों से विषयगत बातचीत करने का निर्णय लिया। बच्चों ने भी बहुत बढ़-चढ़ कर दोस्ती की और इस दोस्ती का फायदा यह हुआ कि बच्चे अपने बारे में बहुत कुछ बताने को उतावले हो रहे थे।

मेरा यह प्रयास रहता है कि स्कूल के दौरे की सीमित अवधि में निम्न उद्देश्य तो कमोबेश प्राप्त हो ही जाएँ:

- बच्चों से संवाद की स्थितियाँ बना सकूँ।
- संवाद कायम होने के बाद बच्चा अपने बारे में जो कुछ भी बताना चाहता है उसे ध्यान से सुन सकूँ।
- बच्चे की मदद ज़रूरी हो तो बच्चे के स्व का सम्मान करते हुए उससे बातचीत करूँ। यकीनन यह बातचीत दोस्ती के स्तर पर ही हो जहाँ मदद लेने एवं देने में कोई संकोच न रहे।

बच्चों के साथ बातचीत

मैंने सबके सामने एक तरह की चुनौती रखी कि हम सब अपने-अपने बारे में बताएँगे कि कौन-सा एक काम हम अच्छे से कर सकते हैं। और इसकी शुरुआत मैंने की, कागज़ से एक तितली बनाकर (और सच कहूँ तो इससे ज़्यादा कुछ बनाना मुझे आता भी नहीं)। इसके बाद कक्षा-5 में नामांकित एक बच्चे ने चुनौती स्वीकार करते हुए कहा, "मैं आपका चित्र बना सकता हूँ।" मेरे साथी मॉडल बने और मैं इस प्रक्रिया का साक्षी। यह महत्वपूर्ण नहीं

है कि उसने हूबहू चित्र बनाया या नहीं वरन् महत्वपूर्ण है उसका अपनी क्षमताओं में विश्वास का भाव, चित्र बनाते समय उसकी तल्लीनता एवं उसका आत्मविश्वास। इसके बाद उसने हाव-भाव के साथ हास्य कविताएँ सुनाईं जो शायद अपने परिवार के बड़े-बुज़ुर्गों से सुनी होंगी। इस बच्चे का नाम अनिल कुमार है। कक्षा-5 में अध्ययनरत अनिल के पिता नहीं रहे, उसकी माँ मेहनत-मज़दूरी करके उसकी शिक्षा का प्रबन्ध कर रही हैं। इतनी विषमताओं के बावजूद अनिल का जीवन पर विश्वास मज़बूत दिखाई देता है। मुझे तो लगता है कि वह जीवन के फलसफे को जानने की यात्रा पर है।

अनिल की अध्यापिका ने बताया कि वह तो पढ़ाई भी अच्छी तरह से कर रहा है और उसने थर्मोकोल से एक मॉडल भी बनाया है।

अनिल ने कक्षा में जैसे जादू ही कर दिया। उसका असर यह हुआ कि प्रत्येक बच्चा अपने बारे में बताने, करके दिखाने को उतावला हो रहा था। मेरी यह नैतिक ज़िम्मेदारी थी कि मैं उनके उत्साह में बाधक न बनूँ। अतः प्रत्येक बच्चे को अभिव्यक्ति का पूरा अवसर दिया गया। इस अवधि में मेरी नज़र एक सहमी-सहमी-सी बच्ची पर भी थी जो अपने में गुमसुम बैठी थी। उस पर यह माहौल असर क्यों नहीं कर पा रहा है?

छूट्टी का समय हो चला था। बस विद्यालय स्टाफ द्वारा शिष्टतावश घण्टी नहीं बजायी गई थी। मैं भी उनकी छुट्टी के समय में आड़े नहीं आना चाहता था, यद्यपि बच्चों का ध्यान छुट्टी के समय पर नहीं रह गया था। फिर भी मैंने मन बनाया और विदा लेने लगा, परन्तु अभी तो एक चमत्कार बाकी था।

वह गुमसुम-सी बच्ची आत्मविश्वास के साथ खड़ी हुई और पूछा, "सर, आपने तो अपना परिचय दिया ही नहीं।"

हाँ बिलकुल, यही शब्द थे उसके। मैं निरुत्तर कुछ-कुछ अचम्भित भी। परन्तु मन ही मन बहुत खुश भी (अधिकतर विद्यालयों में बच्चों को हमेशा उत्तर देने के लिए कन्डीशन्ड किया जाता है और ऐसा प्रश्न करने की तो वे शायद ही कभी हिम्मत कर पाते हों)। मेरी खुशी दो बातों को लेकर थी। पहली यह कि गुमसुम बच्ची ने आत्मविश्वास से स्वयं को प्रस्तुत किया और दूसरी, शायद बच्चे दोस्त के रूप में मुझे स्वीकार कर रहे थे। उस बच्ची के नज़रिए से स्वयं को टटोला तो लगा कि वह मेरा परिचय शिक्षक के रूप में तो नहीं ही चाहती। वस्तुतः औपचारिक परिचय तो विद्यालय की अध्यापिका द्वारा पूर्व में दिया ही गया था, तो फिर यह बच्ची किस प्रकार का परिचय चाहती थी? उसे शायद यह अन्दाज़ा तो होगा कि मैं शिक्षक बिरादरी का कोई व्यक्ति हूँ परन्तु चूँकि शिक्षक-छात्र के बीच की दूरी के मानक का मैं पालन नहीं कर रहा था तो शायद उसे इस बारे में कुछ सन्देह भी हो। अतः मैंने सन्देह का लाभ उठाते हुए पुनः 20-25 मिनट अपनी प्राथमिक कक्षा के अनुभवों और यादों को साझा किया। उस बच्ची के बहुत-से प्रश्नों ने अपने उन दिनों की यादों को ताज़ा करने में मेरी मदद की। बच्चों के प्रश्नों की बानगी तो देखिएः

- आपको कौन-सा विषय अच्छा लगता था?
- क्या आपको अध्यापकों से डर लगता था?
- जिन बातों को आप उन दिनों नहीं समझ पाए थे, क्या बड़े होकर आपने उन्हें समझने की कोशिश की?
- जो बातें आपको समझ में नहीं आती थीं उनके लिए आप क्या करते थे?

आदि आदि।

इसी प्रकार के बहुत-से सवाल थे। निश्चित रूप से ये प्रश्न बच्चों के परिप्रेक्ष्य का संकेत हैं और भविष्य में बच्चों से मुलाकातों में मेरी मदद करेंगे। साथ ही, बच्चों को जानने-समझने एवं इससे बढ़कर अपनी भूमिका की जाँच-पड़ताल में मेरी मदद करेंगे।

परिचय न देने के बारे में उस बच्ची का मासूम-सा उलाहना मुझे बेचैन किए हुए है। यह उलाहना बाध्य कर रहा है कि मुझे बार-बार उन बच्चों के बीच जाना होगा। अभी तो परिचय लेने-देने का सिलसिला शुरू ही हुआ है, इसे मज़बूत बनाना है। बच्चों को जानने-समझने और उससे भी बढ़कर अपनी भूमिका को गहनता से समझने के लिए मुझे जाना ही होगा। बच्ची की आवाज़ मेरा पीछा कर रही है, "सर, आपने तो अपना परिचय दिया ही नहीं।"

केवलानन्द काण्डपालः ज़िला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, बागेश्वर, उत्तराखण्ड में कार्यरत।
सभी फोटोः केवलानन्द काण्डपाल।

शिक्षकों की कलम से

विगत अंक से हमने एक नया कॉलम शुरू किया है जिसके माध्यम से शिक्षक एवं शिक्षक प्रशिक्षक अपने अनुभवों को साझा कर सकें। इस बार तीन अनुभव प्रस्तुत हैं। इन पर अपनी राय दीजिए। साथ ही, आपसे एक छोटी-सी अपेक्षा होगी कि आप अपने अनुभवों को भी हमारे पास ज़रूर भेजिए।

1. सर! आपने तो अपना परिचय!!!..... केवलानन्द काण्डपाल
2. बोलचाल की भाषा और मुहावरे..... अनिल सिंह
3. भोजन की थाली से..... मोहम्मद उमर

बोलचाल की भाषा और मुहावरे

अनिल सिंह

अब यह एक प्रगतिशील विचार है कि मौखिक भाषा की मज़बूती और विस्तार, लिखने और पढ़ने के कौशल पर प्रत्यक्ष एवं सकारात्मक असर डालते हैं।

ज़्यादातर स्कूलों में बोलने या बातचीत को आम तौर पर भाषा के एक संसाधन के रूप में नहीं देखा जाता। किसी कक्षा गतिविधि के सन्दर्भ में सबसे मुखातिब होकर बोलने के मौके बच्चों के पास बहुत ही कम और सीमित अर्थों में ही हैं। जैसे कि, किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए निर्धारित और नपे-तुले शब्दों में बोलना, स्कूल नहीं आ पाने, कॉपी-किताब नहीं ला पाने या गृहकार्य पूरा नहीं कर पाने के कारण बताते समय भय और शर्मिन्दगी का भाव लिए हुए बोलना या फिर पाठ्यपुस्तक का वाचन करते हुए अक्षरशः बोलना।

मौखिक भाषा यहीं से कुण्ठा और किताबी ढाँचे का शिकार होती चली जाती है। इन पाबन्दियों के चलते उसका संसार विस्तृत नहीं हो पाता। पढ़ने और लिखने का कौशल सीखने में स्कूल के भीतर इस मौखिक भाषा से कोई मदद नहीं मिल पाती। लिखने-पढ़ने का काम एक अलग ही टापू बन जाता है जिसका बोलचाल की नदी से कोई जुड़ाव ही नहीं।

हमने मौखिक भाषा के लिए अलग-अलग स्तरों पर कई सारे प्रयास किए हैं। इन प्रयासों में किस्से-कहानियाँ गढ़ना, उनका वाचन, पिछले दिन के

अनुभव साझा करना जैसी कुछ अनौपचारिक गतिविधियाँ आदि। इसी सन्दर्भ में बड़े बच्चों (6 से 10 साल) के समूह के साथ मुहावरों पर किए गए सत्र को साझा किया जा रहा है।

उस दिन बच्चों को यह तो पता था कि आज मुहावरों पर चर्चा होनी है पर बच्चे यह नहीं सोच पा रहे थे कि कक्षा में आखिर होगा क्या। लिखाया जाएगा या पढ़ाया जाएगा या फिर कुछ सुनाया जाएगा।

कक्षा इस बात से शुरू हुई कि आज हम मुहावरों के बारे में बातचीत करेंगे और कुछ मुहावरे सीखेंगे। उन्हें बताया कि जब किसी घटना को पूरा बखान न करके थोड़े से शब्दों में एक कैप्सूल की तरह बोला जाए तो यह कितना मज़ेदार हो सकता है। और कैप्सूल पहले से ही तैयार हों। सिर्फ छाँटना है कि कौन-सा कैप्सूल यहाँ पर फिट बैठेगा। ये कैप्सूल ही मुहावरा है। इतना समझना था कि बच्चों के बीच हँसी के फव्वारे और खुसर-फुसर फैल गई।

ऊँट के मुँह में जीरा

मैंने उदाहरण के रूप में पहला मुहावरा लिया 'ऊँट के मुँह में जीरा'। मैंने पूछा, "ऊँट सबने देखा है?" सब अपने-अपने अनुभव बताने लगे। चित्र से लेकर फिल्म और ऊँट की सवारी तक के अनुभव सामने आए। इसके बाद पूछा, "और जीरा?" सबने उस पर भी कोई देर न की।

अब मैंने ब्लैक-बोर्ड पर एक बड़ा-सा पूरा ऊँट बनाया। मैंने कहा, "इतना बड़ा तो होगा?" इस पर बच्चों ने

कहा, "इससे भी बड़ा होता है।" मैंने कहा, "ठीक है, अपने पास इतना ही बड़ा बोर्ड है इसलिए इतना ही बड़ा ऊँट चलेगा।"

इसके बाद अब जीरे की बारी थी। मैंने बोर्ड पर चॉक से एक बिन्दु बनाया और पूछा, "जीरा इतना बड़ा होगा?" उन्होंने कहा, "और छोटा।" मैंने कहा, "ठीक है, पर इससे छोटा दिखेगा नहीं। फिलहाल अपन इसे ही जीरा मानकर चलते हैं।" मैंने कहा, "अब फिर से एक बार 'ऊँट के मुँह में जीरा' मुहावरे पर नज़र डालो।" मैंने जानबूझकर ऊँट का मुँह बड़ा ही बनाया था। मैंने कहा, "इसमें दो चीज़ें हैं, ऊँट का मुँह और जीरा।" उनसे पूछा कि ऊँट क्या-क्या खाता है। सबने ढेर सारी चीज़ें गिनाईं। अब मैंने एक किस्सा सुनाया, "एक बार एक ऊँट को बहुत ज़ोरों की भूख लगी थी। रेगिस्तान में दूर-दूर तक कहीं भी कोई पेड़, पत्ती या घास न दिखती थी। ऊँट भूख से बेहाल था। उसके माालिक की थैली में भी कुछ न था। फिर भी उसने एक बार अपनी थैली खँगाली। उसमें जीरे का एक दाना कोने में चिपका हुआ मिल गया। उसने वह जीरा ऊँट को खाने के लिए दिया। ऊँट ने मुँह खोला और माालिक ने जीरा उसके मुँह के अन्दर रख दिया। ऊँट अपनी जीभ से जीरे को टटोलता ही रह गया।"

बच्चों ने कहा, "फिर तो वह भूखा ही रह गया होगा।" "जीरे का दाना तो उसके दाँतों के बीच ही फँस कर रह गया होगा।" किसी ने कहा, "गाल में चिपक गया होगा।" कोई बोला, "जीभ के नीचे ही छुप गया होगा।"

मुझे लगा, बात जम गई है। ऊँट और जीरे का अनुपात समझ पाने के लिए यह पर्याप्त था। ऊँट की ज़रूरत और उपलब्ध सामग्री के बीच सम्बन्ध भी उन्हें समझ आ गया।

मैंने परिभाषा गढ़ी कि जब ज़्यादा की ज़रूरत हो और उसकी तुलना में बहुत थोड़ा या नाममात्र को मिले तो ऐसी स्थिति में कहते हैं ये तो 'ऊँट के मुँह में जीरे' वाली बात हुई।

बच्चों को तो मज़ा ही आ गया। उन्हें परिस्थिति और उसका कैप्सूली-करण समझ आ गया था। मैंने कहा, "अब सब एक किस्सा सुनाएँ जिसमें ऊँट के मुँह में जीरा जैसी बात हो।" दो बच्चों ने तो हूबहू यही किस्सा दोहरा दिया। तीन बच्चों ने ऊँट की जगह हाथी और घोड़ा रखे। दो बच्चों ने उसे अपने साथ जोड़ा और खुद के सामने भूख में एक टॉफी या बेर खाने की स्थिति बताई।

अगले चरण में यह तय हुआ कि अब सब अपनी-अपनी परिस्थिति को अभिनय द्वारा प्रस्तुत करें। यह तो और भी मज़ेदार रहा। मैंने कहा, "आज के लिए इतना काफी है। कल हम दो नए मुहावरे लेंगे और उन पर किस्से बनाएँगे और फिर उन्हें अभिनय द्वारा प्रस्तुत करेंगे।"

अब तो मुहावरे की कक्षा हिट हो

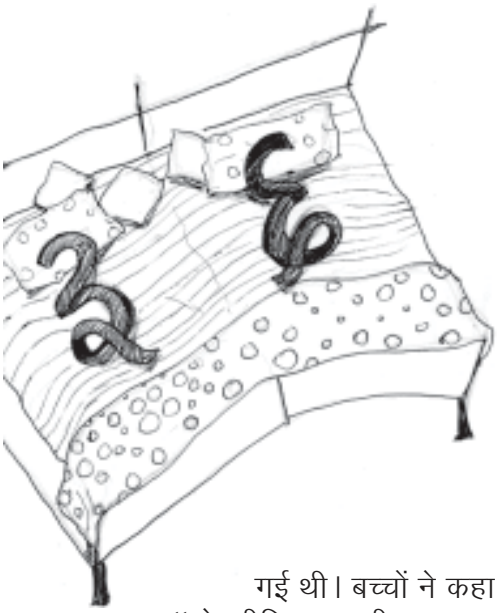

गई थी। बच्चों ने कहा, "दो पीरियड इसी पर बात करेंगे।" ऐसा ही हुआ। इस बार हमने दो नए मुहावरे, 'छत्तीस का आँकड़ा' और 'आ बैल मुझे मार' लिए।

छत्तीस का आँकड़ा

सबसे पहले मैंने बोर्ड पर ३६ लिखा। मैंने पूछा, "यह क्या है?" सब बोले, "थर्टी सिक्स - छत्तीस।" मैंने कहा, "अगर ये दो इन्सान हों तो? तुम्हें क्या दिखता है?" किसी ने कहा, "ये अलग-अलग करवट लेकर सो रहे हैं।" मैंने कहा, "अगर ये खड़े हों तो?" एक ने कहा, "ये अलग-अलग चीज़ों को देख रहे हैं।" दूसरे ने कहा, "अलग-अलग तरफ मुँह किए हुए हैं।" मैंने कहा, "अगर ये एक-दूसरे से नाराज़ हों तो?" तब एक ने कहा, "ये एक-दूसरे का चेहरा नहीं देखना चाहते। आपस में बात नहीं करना चाहते। पीठ लड़ाकर खड़े हैं," वगैरह वगैरह।

मैंने किस्सा सुनाया, "एक बार कक्षा में एक दोस्त से मेरा झगड़ा हो गया। उसकी कुछ आदतें मुझे बिलकुल पसन्द नहीं थीं। वह बहुत शरारत करता था, मैं चुपचाप बैठता था फिर भी मेरे नाम से शिकायत होती थी। वह आधी छुट्टी में बाहर सड़क पर घूमता था, मैं अपनी कॉपी लिखता था। वह दूसरे साथियों से मेरी बुराई करता और मेरी खिल्ली भी उड़ाता। बाद में हम लोग अलग-अलग बैठने लगे। जब हमें साथ बुलाया जाता तो हम एक-दूसरे की तरफ पीठ करके खड़े हो जाते। टीचर ने कहा, पहले तो इनमें याराना था अब '३६ का आँकड़ा' है।"

एक बच्ची उठी और उसने दो कुर्सियों को उठाकर एक-दूसरे की विपरीत दिशा में इस प्रकार सटा कर रखा मानो वे एक-दूसरे से बात नहीं करना चाहती हैं। उनकी पीठ एक-दूसरे की तरफ और मुँह अलग-अलग दिशाओं में।

बच्चों को समझते देर न लगी कि '३६ के आँकड़े' में भी स्थिति बिलकुल यही है। ये दो इन्सान हैं। इनके बीच अनबन है। इनकी आपस में नहीं पटती। ये एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। मतलब '३६ का आँकड़ा'। अगले ही पल दो बच्चियाँ उन कुर्सियों पर जा बैठीं। सब चिल्लाने लगे 'छत्तीस का आँकड़ा', 'छत्तीस का आँकड़ा'।

अब सबको अपने-अपने किस्से बनाने थे। सबने परिस्थितियाँ गढ़ीं और उन्हें प्रस्तुत किया।

आ बैल मुझे मार

अब बारी थी 'आ बैल मुझे मार' की। मैंने फिर एक किस्सा सुनाया। मैंने कहा – एक व्यक्ति चला जा रहा था और एक बैल चुपचाप घास चर रहा था। उसने देखा एक दूसरा व्यक्ति बैल को परेशान कर रहा है और बार-बार उसके सींगों से खिलवाड़ कर रहा है। पहले वाले व्यक्ति ने उसे मना भी किया कि अरे वो बैल है, सींग मार देगा। पर दूसरा व्यक्ति न माना। वह वैसा ही करता रहा। आखिरकार, खीझकर बैल ने उसे सींग मार ही दीं। व्यक्ति गिर पड़ा और उसे काफी चोट आई। इस पर पहले व्यक्ति ने कहा यह तो वही बात हुई कि 'आ बैल मुझे मार।' ज़ख्मी व्यक्ति को उठाते हुए उसने कहा, "तुमने ही बैल को मारने के लिए बुलाया, अब भुगतो।"

"और कुछ इस तरह बना मुहावरा 'आ बैल मुझे मार'।" मैंने कहा, "सभी इस पर एक-एक किस्सा बनाएँ और सुनाएँ।" इसके बाद दो समूह बना दिए गए और काम यही कि दोनों समूह इस मुहावरे को अलग-अलग तरह से अभिनय द्वारा प्रस्तुत करें।

बच्चों को इस गतिविधि में बहुत मज़ा आया। एक समूह ने तो बैल ही रखा पर दूसरे समूह ने बैल की जगह एक गुस्सैल पहलवान को लिया। इसके बाद तो '**दिन में तारे नज़र आना**', '**हवाई किले बनाना**', '**करेला वो भी नीम चढ़ा**', '**एक पंथ दो काज**', '**तिल का ताड़ बनाना**', '**हाथ पर हाथ धरे बैठना**' जैसे मुहावरों में बच्चों ने कमाल की कल्पनाशीलता और रचनात्मकता दिखाई। किस्सा सुनाते ही उन्हें मुहावरे की परिस्थिति समझते देर न लगती और झट से वे इसके लिए एक दूसरा उपयुक्त किस्सा रच देते और फिर समूह में अभिनय द्वारा प्रस्तुत भी कर देते।

'हवाई किले बनाना' में शेखचिल्ली का किस्सा उन्हें बहुत मज़ेदार लगा। समूह में जब उन्होंने अपने किस्से गढ़े और अभिनय द्वारा उन्हें प्रस्तुत किया तो वह देखने लायक था। सटीक परिकल्पना, असरदार संवाद और समन्वय का ज़बरदस्त उदाहरण रहीं उनकी ये प्रस्तुतियाँ।

मुहावरों के इन सत्रों के बाद तो 'तिल का ताड़ बनाना', 'एक पंथ

दो काज' और 'हवाई किले बनाना' के प्रयोग बच्चों की बातों में कई रोज़ तक सहज ही सुनाई देते रहे। जब एक छोटी बच्ची को दरवाज़े की मामूली खरोंच लगी और सब ने उसे घेर लिया, मरहम पट्टी का डिब्बा ले आए, किसी ने आकर टीचर को बताया कि बहुत चोट लगी है, तो इस पर बड़ी उम्र समूह के एक बच्चे ने कहा, "फालतू में ये लोग तिल का ताड़ बना रहे हैं सर, कोई चोट-वोट नहीं लगी है।"

मुहावरे, बोल-चाल की भाषा में खिलन्दड़पन का एक उपकरण हैं। ये न सिर्फ भाषा में चुटीलेपन व सारगर्भिता को बढ़ाते हैं बल्कि अपयोग करने वाले की तर्कशक्ति, वाकपटुता और सूझबूझ को भी राह देते हैं। बच्चों के साथ मुहावरे की गतिविधियों के बड़े ही दिलचस्प अनुभव रहे। कक्षा में बच्चों की सहज भागीदारी यह दर्शाती है कि मुहावरे के प्रयोग को बच्चे आत्मसात कर पा रहे थे। और यही तो बोलचाल की भाषा की सहजता का फायदा है।

अनिल सिंह: वंचित तबके के बच्चों के साथ काम करने वाली संस्था 'मुस्कान' के साथ लम्बे समय तक काम किया है। वर्तमान में आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल, भोपाल से जुड़े हैं। कहानी प्रस्तुति में विशेष रुचि।

सभी चित्र: शिवांगी: अम्बेडकर युनिवर्सिटी, दिल्ली से विज़्युअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर। लोक कथाओं की चित्रकारी पर शोध कर रही हैं। स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। दिल्ली में निवास।

शिक्षकों की कलम से

विगत अंक से हमने एक नया कॉलम शुरू किया है जिसके माध्यम से शिक्षक एवं शिक्षक प्रशिक्षक अपने अनुभवों को साझा कर सकें। इस बार तीन अनुभव प्रस्तुत हैं। इन पर अपनी राय दीजिए। साथ ही, आपसे एक छोटी-सी अपेक्षा होगी कि आप अपने अनुभवों को भी हमारे पास ज़रूर भेजिए।

1. सर! आपने तो अपना परिचय!!!..... केवलानन्द काण्डपाल
2. बोलचाल की भाषा और मुहावरे..... अनिल सिंह
3. भोजन की थाली से..... मोहम्मद उमर

भोजन की थाली से

मोहम्मद उमर

स्कूल में सभी बच्चों को बराबर सम्मान मिले यह विचार नया नहीं है। हमारे संविधान में लिखे समता, स्वतंत्रता जैसे विचारों से साफ है कि आज़ादी के बाद से ही इस बात पर स्पष्ट सैद्धान्तिक सहमति रही है। एन.सी.एफ. 2005 ने इस बात को एक बार और पुख्ता ही किया है। दुर्भाग्य रहा है कि विचारों के स्तर पर बनी यह सहमतियाँ इतने सालों में भी महज़ विचार बनकर ही रह गई हैं। ये ज़रूर हुआ है कि शिक्षा से जुड़े सभी दस्तावेज़ों में इनका ज़िक्र आ जाता है। पाठ्यक्रम या पुस्तक निर्माण में यदि कुछ संवेदनशील लोग जुड़े हैं तो थोड़ी-बहुत पुस्तक के पाठों और चित्रों में भी ये भावना आ जाती है। कक्षा-कक्ष की परिस्थितियाँ काफी हद तक आज भी पहले जैसी ही हैं। कारण तमाम हैं, लेकिन कुछ पर हमें खुलकर संवाद करने की ज़रूरत है। मैं यहाँ पर कुछ अलग-अलग घटनाओं का ज़िक्र करने जा रहा हूँ जो आपको पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षक प्रशिक्षण से लेकर कक्षा-कक्ष तक की कुछ झलकियाँ देंगी। इन सभी बातों को जोड़कर देखते हुए हम एक बड़े सवाल को टटोलने का प्रयास करेंगे।

दो साल पहले एक हिन्दी-भाषी राज्य में बच्चों के लिए नई किताबें लिखने का काम शुरू हुआ था। संयोग से मैं भी इस प्रक्रिया में शामिल था। किताबें पहले की तुलना में काफी बेहतर हैं। पाठ्यक्रम का आधार एन.सी.एफ. 2005 ही था इसलिए उसमें सुझाए सभी मुद्दों पर लेखन समूह के सदस्यों की साझा सहमति थी। मैं तथा मेरे कुछ साथी अलग-अलग विषयों के लेखन समूहों में सहभागी भूमिका में थे। लगातार कई-कई दिनों तक किताबें लिखने की कार्यशालाएँ चलती थीं। देश भर से आने वाले शिक्षाविद्, राज्य के शिक्षक तथा स्वयं-सेवी संगठनों के लोग इन लेखन समूहों का हिस्सा थे। हम कुछ साथी अक्सर शाम को अपने अनुभव साझा करते थे तथा विषयों के बीच के अन्तर्सम्बन्धों पर चर्चा किया करते थे।

गैरतार्किक आहार वर्चस्व

एक दिन कार्यशाला से वापिस आने पर भाषा के विषय-समूह में काम कर रहे मेरे सहकर्मी कुछ परेशान-से दिख रहे थे। आज उनके समूह में किसी मुद्दे पर काफी तर्क-वितर्क हुआ था।

मेरे साथी ने बताया कि किताब में एक कुत्ते का चित्र बना है, जिसके सामने कटोरे में एक हड्डी रखी थी। लेखन समूह के कुछ लोगों को ये स्वीकार नहीं था। वे कह रहे थे कि कटोरे से हड्डी का चित्र हटाकर कुछ शाकाहारी चीज़ का चित्र बनाना चाहिए, लेकिन मौलिक कहानी के सन्दर्भ के अनुसार कटोरे में हड्डी बनाया जाना आवश्यक था।

इसी तरह पर्यावरण अध्ययन की किताबों के लिए लिखे जा रहे पाठों में से एक पाठ भोजन पर आधारित था। तमाम किस्म के खान-पान का ज़िक्र करते हुए ये बात करनी थी कि क्या-क्या चीज़ें खाने से हमें कौन-कौन से पोषक तत्व मिलते हैं। अतः यहाँ अण्डा, माँस, मछली खाने की बात और इनके चित्र भी आवश्यक थे। पर्यावरण अध्ययन के लेखन समूह के सदस्यों में भी इस बात को लेकर मतभेद था। यहाँ भी कई लोग नहीं चाहते थे कि माँसाहारी भोजन का चित्र किताबों का हिस्सा बने। भारत की प्रमुख संस्थाओं में बरसों से काम कर रहे प्रमुख शिक्षाविद् इन समूहों के प्रमुख सलाहकार थे, अतः वे अपने कौशलों से समूह के लोगों में सामंजस्य बनाने में कामयाब हो सके थे।

इसी तरह का एक और नज़ारा एक ज़िले में चल रहे शिक्षक प्रशिक्षण में दिखाई दिया। ये ब्लॉक स्तर का प्रशिक्षण था। एक सरकारी स्कूल के चार बड़े कमरों में विभिन्न विषयों का प्रशिक्षण चल रहा था। प्रत्येक कमरे में दो प्रशिक्षक तैनात थे। ज़िले के एक बहुत ही वरिष्ठ संस्कृत शिक्षक को मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बनाया गया था। हालाँकि, किसी भी कक्ष में संस्कृत का प्रशिक्षण नहीं चल रहा था, फिर भी ये मुख्य सन्दर्भ-सदस्य थे। बहुत ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दी बोलना जानते थे। अतः ज़िले के शिक्षकों में विद्वान के रूप में स्थापित थे।

प्रशिक्षणों में सुबह 9 से 10 बजे के बीच बहुत ही कम शिक्षक पहुँच पाते थे। इस समय चारों कक्षों के लोगों को एक ही कमरे में बिठाकर प्रार्थना, प्रेरणा गीत, प्रेरक प्रसंग आदि होता था। यह सब आयोजित करने में वे माहिर थे। उनके हाथ में एक मोटी डायरी होती थी, जिसमें बहुत-से भजन, प्रार्थना, प्रेरणा गीत आदि लिखे थे। यूँ तो उन्हें बहुत-से कण्ठस्थ थे, परन्तु आपातकाल में या फिर कुछ खास

फरमाइश आ जाने पर वे अपनी इस डायरी का प्रयोग करते थे। वे अपनी बातों को कहते समय वेद, पुराण, श्लोक आदि का काफी प्रयोग करते थे। सरसरी तौर पर अगर कोई उन्हें इस रूप में देखे तो उसे यही लगेगा कि नैतिक शिक्षा, जीवन मूल्यों आदि पर व्याख्यान दिया जा रहा है। लेकिन, थोड़ा गौर से सुनें तो उनकी कई बातें अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देने वाली हुआ करती थीं।

ऐसे ही एक दिन वे मेरे कक्ष में भी आ गए। प्रार्थना और प्रेरणा गीत के बाद अपनी वार्ता प्रारम्भ कर दी। उन्होंने कहा – प्राचीन काल में भारतवर्ष के ऋषि सिद्धार्थ और अरब देश के ऋषि हसन में बहुत मित्रता थी। एक दिन ऋषि हसन अपनी उड़ने वाली कालीन पर बैठकर ऋषि सिद्धार्थ से मिलने आए। उनकी कालीन रेगिस्तान और सागरों को पार करते हुए ऋषि सिद्धार्थ के आश्रम के पास पहुँची। उन्होंने ऊपर से ही देखा कि बहुत-से पशु-पक्षी आश्रम में स्वतंत्र घूम रहे हैं। कुछ हिरन सिद्धार्थ ऋषि के चरणों के पास बैठे हैं और वे उनका सिर सहला रहे हैं। यह सब देख ऋषि हसन को बहुत अच्छा लगा। वे जैसे ही सिद्धार्थ ऋषि के पास पहुँचे, सारे जानवर और पक्षी डरकर दूर भाग गए। कुछ झाड़ियों के पीछे छिपने लगे। यह सब देख ऋषि हसन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सिद्धार्थ ऋषि से पूछा, "ये क्या हुआ भाई? ये सब जानवर और पक्षी तो अभी तक आपके पास बैठे थे, अब डरकर इतना दूर क्यों चले गए?"

सिद्धार्थ ऋषि ने कहा, "मित्र हसन, जैसा आहार वैसा विचार। ये सब जानवर आप से डरकर दूर भाग गए हैं। आपके पसीने की महक से ये जान गए हैं कि आप माँस खाते हैं।"

इस कहानी का अन्त करते समय मुख्य सन्दर्भ-सदस्य जी ने बहुत ही अच्छे से स्थापित कर दिया था कि विचारों के बनने में भोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उनके सामने बैठे समूह में जाट, गुर्जर, मीणा, भील, गमेती, ब्राह्मण, कायस्थ, मुसलमान आदि सभी वर्गों के शिक्षक उपस्थित थे। सब लोग इस कथा को सच मान रहे होंगे ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु सभी योग की मुद्रा में बैठे बहुत ध्यान से उनकी बातें सुन ज़रूर रहे थे। कहीं से कोई असहमति नहीं दिख रही थी। उनका विद्वान के रूप में विख्यात होना ही काफी था।

यह कैसी शिक्षा?

इस कपोल-कल्पित कथा का जो निष्कर्ष इस सदन में स्थापित किया जा रहा था, वह ठीक नहीं था, लेकिन कोई प्रश्न उठाने वाला भी यहाँ नहीं था। पिछले कुछ बरसों में हमारी शिक्षा ने शाकाहारी होने को खूब महिमामण्डित तथा माँसाहारी होने को खूब तिरस्कृत किया है। इसी का नतीजा था कि कई ऐसे समुदायों से आने वाले शिक्षक-शिक्षिकाएँ जिनके घरों में माँसाहारी होना वर्जित नहीं है, वे भी चुपचाप इन सब बातों को सुन रहे थे। हमारी कक्षाओं में भी यही होता है। पर्यावरण की रक्षा, पशु प्रेम, जीव हत्या जैसे प्रसंगों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से माँसाहारी लोगों या माँसाहारी समुदायों से आने वाले लोगों को निशाना बनाया जाता है। इसका नतीजा यह होता है

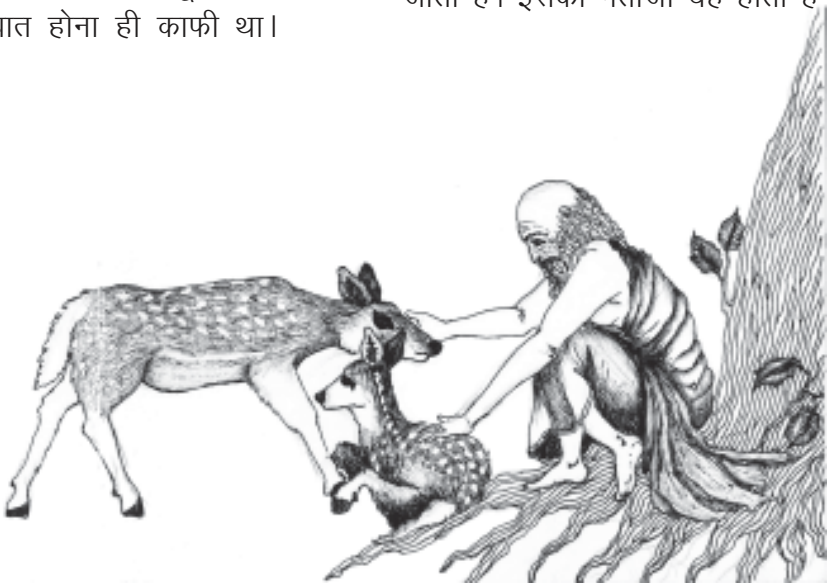

कि बच्चे के मन में भी एक-दूसरे के प्रति इस तरह की बातें घर कर जाती हैं।

मुझे याद है। बचपन में मेरे स्कूल में भी बकरीद जैसा त्योहार आने पर शिक्षक कुरेद-कुरेद कर, सभी बच्चों के सामने पूछते थे कि कल तुम्हारे घर क्या-क्या बनेगा। यदि मैं खीर-सिवइयाँ बोलकर रुक जाता तो वे अपनी तरफ से ही जोड़ देते कि बकरा नहीं कटेगा क्या! ये सुनकर मेरे कुछ सहपाठी हँसते या कुछ छी-छी करने लगते थे। इतनी छोटी उम्र में भी कक्षाओं में लगातार घटने वाले इस तरह के व्यवहार ने मुझे ये अहसास करा दिया था कि ऐसी कुछ चीज़ें हैं जो मेरे भोजन का हिस्सा हैं लेकिन बाहर का समाज इसे स्वीकार नहीं करता है।

मुझे समझ में नहीं आता था कि भला ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई चीज़ जो मेरा भोजन है, जिसे मैं खाता हूँ वह दूसरे बच्चों या शिक्षकों के लिए इतनी खराब है कि वे उससे घृणा करते हैं। उसका नाम सुनते ही छी-छी करते हैं। थोड़ा और बड़ा होने पर इस शर्मिन्दगी से बचने के लिए मैं कभी-कभी झूठ बोल दिया करता था कि मैं और मेरा परिवार तो शाकाहारी हैं। हम लोग माँस-मछली खाते ही नही हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हुए मुझे अब तकरीबन पन्द्रह साल होने को आ रहे हैं। इस दरम्यान मैं बहुत सारे लोगों से मिला हूँ। कई संस्थाओं को बहुत करीब से देखा है। सच कहूँ तो मेरी बचपन की कक्षाओं से बहुत अलग नहीं हैं ये भी। कई लोगों या संस्थाओं पर प्रगतिशील होने का ठप्पा तो है, पर ज़रा नज़दीक से देखने पर ही कलई खुल जाती है। ब्राह्मणवादी सोच के अवशेष जितने समाज में बचे हुए हैं, उतने ही शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रही इन संस्थाओं में भी हैं। फिर चाहे वो सरकारी हों या गैर-सरकारी।

तार्किक समझ

खैर, वापिस अपने प्रशिक्षण कक्ष में चलते हैं। थोड़ा भी इतिहास, भूगोल समझने वाला आदमी आसानी से जान सकता है कि ऋषियों वाली कहानी सत्य नहीं थी। वो किसी के पूर्वाग्रहों और कल्पना की उपज थी, जिसे इतिहास की चाशनी में डुबोकर सत्य का जामा पहनाने का प्रयास किया जा रहा था। पर अभी सवाल कहानी के सत्य या असत्य होने का नहीं था। सवाल था इस कहानी के ज़रिए फैलाए जा रहे गलत सन्देश का प्रतिरोध तर्कों के आधार पर करने का, वरना एक सदन में इस तरह का झूठ स्थापित हो जाता और आगे भी फैलता जाता।

मैं गणित विषय में काम करता हूँ पर कुछ रुचि इतिहास में भी रखता हूँ।

मैंने सवाल किया, "क्या आप सब ये मानते हैं कि व्यक्ति के विचारों का अच्छा या बुरा होना उसके भोजन पर निर्भर करता है?"

मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बोले, "जी बिलकुल, आपने अभी सुना न कि पशु-पक्षी भी ऋषि हसन से दूर भाग गए थे।"

मैंने सदन से दोबारा सवाल किया, "भारत के इतिहास में शान्ति का सन्देश देने वाले व्यक्ति का नाम आप जानते हैं?"

एक शिक्षक बोले, "जी, महात्मा गौतम बुद्ध।"

मैंने एक और सवाल किया, "दुनिया के इतिहास में आप सबसे क्रूर व्यक्ति किसे मानते हैं?"

एक अन्य शिक्षक ने कहा, "हिटलर।"

मैंने एक सवाल के साथ अपनी बात रखी, "क्या आप जानते हैं कि हिटलर और गौतम बुद्ध क्या खाते थे? हिटलर शाकाहारी था और गौतम बुद्ध माँसाहारी थे। यदि भोजन ही विचारों को बनाता-बिगाड़ता है तो ये दोनों ऐसे कैसे हो गए थे? एक शाकाहारी होकर भी क्रूर तानाशाह हुआ और दूसरा माँसाहारी था फिर भी शान्ति एवं अहिंसा का प्रतीक बन गया।"

इस सवाल की कल्पना भी नहीं की थी किसी ने। सदन का सन्नाटा भंग हो गया। एक शिक्षिका बड़ा-सा घूँघट डाल कर बैठी थीं। वे बोलीं, "सर जी, रावण क्या खाता था?"

मैंने जवाब दिया, "मुझे नहीं पता कि रावण क्या खाता था। उसके भोजन के बारे में मुझे जानकारी नहीं है।"

इतने में मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बोले, "रावण शुद्ध शाकाहारी था। वह एक बहुत ही विद्वान ब्राह्मण था।"

उनकी इस बात को सुनते ही कुछ लोग कहने लगे – पर था तो वह भी असत्य और अधर्म के मार्ग पर न।

इस तरह कुछ देर तर्क-वितर्क और चर्चा करने के बाद लोग समझ सके कि किसी के अच्छा या बुरा होने में उसके भोजन की कोई भूमिका नहीं होती है।

समावेशी होने के मायने

किताब लिखने के दौरान कुत्ते के कटोरे में हड्डी रखने पर आपत्ति और शिक्षक प्रशिक्षण की इस चर्चा को

गम्भीरता से समझने की ज़रूरत है। यदि वास्तव में हम शिक्षा व्यवस्था को और कक्षाओं को समावेशी बनाना चाहते हैं तो इस तरह के लोगों के साथ मज़बूत तर्कों के आधार पर ही लड़ना पड़ेगा। भारत जैसे देश में इतनी किस्म की विविधताएँ हैं। इतना विशाल समुद्री तट है हमारे पास जिसके हज़ारों मील लम्बे तटों पर रहने वाले लोगों का मुख्य भोजन ही मछली है। अण्डमान निकोबार जैसे द्वीप समूह हैं जहाँ भोजन के लिए समुद्री जीवों पर ही निर्भर रहना होता है। इतने किस्म की जातियाँ और जन-जातियाँ हैं, जिनके खान-पान नदियों-जंगलों में पाए जाने वाले जीवों पर ही आधारित हैं। कई तरह के धर्म सम्प्रदाय हैं। सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन सबको साथ लेकर बढ़ना है तो सबकी संस्कृतियों, सबकी मान्यताओं, रीति-रिवाज़ों, बोली-भाषाओं और खान-पान को सम्मान देना पड़ेगा। तभी हम सही मायने में समावेशी हो सकेंगे और हमारा समाज समावेशी बन सकेगा।

मोहम्मद उमर: अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, चित्तौड़गढ़ में कार्यरत।
सभी चित्र: नर्गिस शेख: क.का. साहेब वाघ कॉलेज, नासिक से इंजीनियरिंग की पढ़ाई की है। लिथो प्रिंटिंग वर्कशॉप, आई.डी.सी. मुम्बई से सम्बद्ध। स्वतंत्र रूप से फोटोग्राफी करती हैं।

नारीवाद और विज्ञान

विज्ञान के प्रमुख शिक्षण संस्थानों में सदैव ही पुरुषों का वर्चस्व रहा है और महिलाओं की संख्या नगण्य। शायद ऐसा विज्ञान विषय की प्रकृति और इन संस्थानों की पुरुषवादी सोच के कारण है। इस बारे में अपने अनुभव और अपने विचार **विवेक वेलांकी के साथ साझा कर रही हैं चयनिका शाह** जिन्होंने आईआईटी, मुम्बई से पीएच.डी. करने के बाद मुम्बई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक महाविद्यालय में बीस साल से भी ज़्यादा समय तक पढ़ाया है। इसके अलावा मुम्बई स्थित टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ में स्नातकोत्तर स्तर पर 'नारीवादी विज्ञान अध्ययन' और 'विज्ञान शिक्षण' जैसे पाठ्यक्रम बनाए हैं साथ ही उनका अध्यापन भी किया है।

विवेक वेलांकी: आपने आईआईटी (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान), मुम्बई से 1980 के दशक में पीएच.डी. की है और उस दौरान के अपने अनुभवों के बारे में आपने लिखा है कि, "समाज में यह आम धारणा मौजूद है कि विज्ञान व वैज्ञानिक संस्थान आम तौर पर पुरुषों के क्षेत्र हैं और खास तौर से ब्राह्मण पुरुषों के।" आईआईटी में विज्ञान की छात्रा होने के साथ-साथ एक महिला होने का आपका अनुभव क्या रहा?

चयनिका शाह: दरअसल यह बाद की समझ है। जब मैं वहाँ थी, तब मैं और मुझ जैसे अन्य लोग, कभी भी खुद को दूसरे छात्रों से अलग नहीं समझते थे। मुझे लगता है कि अपने आईआईटी कैम्पस में जो पहला नारीवादी संघर्ष हमने किया वह था हमारे हॉस्टल का नाम बदल कर 'हॉस्टल-10' करवाने का। उससे पहले वह 'लेडीज़ हॉस्टल' के नाम से जाना जाता था। हमारा कहना था कि चूँकि हम भी बाकी सभी की तरह ही विद्यार्थी हैं, और चूँकि बाकी सभी हॉस्टल्स के नाम 'हॉस्टल-1' से 'हॉस्टल-9' तक हैं तो इस लिहाज़ से हमारे हॉस्टल का नाम 'हॉस्टल-10' होना चाहिए। उस समय एक विद्यार्थी और समान व्यक्ति के तौर पर उस

जगह पर अपने दावे को मनवाने की हमारी माँग थी कि इस बात पर कतई ज़ोर न दिया जाए कि हम महिलाएँ हैं ('लेडीज़' तो हर्गिज़ नहीं) और इसलिए किसी भी लहज़े में दूसरों से अलग हैं।

अब जब पीछे मुड़कर देखती हूँ, तो मुझे महसूस होता है कि वह बेहद पुरुषवादी माहौल था, और आज भी है। जब मैं वहाँ गई थी, तब 3000 विद्यार्थियों में 70 लड़कियाँ थीं। हमें अजूबों की तरह देखा जाता। यह तो होना ही था। मैंने इस बारे में लिखा भी है, वे सब कहा करते थे कि जेंडर तीन होते हैं: पुरुष, महिलाएँ और आईआईटी की महिलाएँ। आईआईटी में पढ़ रही लड़कियों का बेहूदा मज़ाक उड़ाने का यह उनका तरीका था। उस दौर में आईआईटी की लडकियाँ पुरुषों की तरह बनने की कोशिश करती थीं, और इन तानों को अनदेखा करने की कोशिश करतीं। लेकिन 2011 में मैंने एक बार फिर कुछ ऐसा पढ़ा जिसमें आईआईटी के पुरुष यह तर्क रखने की कोशिश कर रहे थे कि आईआईटी में तो महिलाएँ हैं ही नहीं, क्योंकि वे अजीब दिखती हैं, वे पर्याप्त मेहनत नहीं कर रही हैं। इस तरह आदमी अभी भी यह कह रहे हैं कि तीन जेंडर हैं: पुरुष, महिलाएँ और तीसरा जिन्हें अब वे गैर-पुरुष कहते हैं।

मुझे लगता है कि यह पूरी तरह से पुरुषवादी माहौल है - छात्रों की बड़ी संख्या के बीच एक बहुत ही छोटा माइनॉरिटी समूह होना - 60 विद्यार्थियों की कक्षा में एकमात्र छात्रा होना कैसा होता है, इसे महसूस करने से ही यह बात समझ में आती है। और ये कोई आम लड़के नहीं हैं। ये वो पुरुष हैं जिन्हें समाज के सभी हिस्सों से अनुमोदन प्राप्त है कि वे दूसरों से तेज़ और श्रेष्ठ हैं, और इनमें ऐसा होने का पूरा घमण्ड भी होता है। ये उच्च वर्गों से आते हैं और आम तौर पर उच्च जातियों से भी। ऐसी बहुत सारी चीज़ें हैं जो इनके पक्ष में होती हैं, और इसके चलते कहीं-न-कहीं इनकी दृष्टि पूरी तरह से पारम्परिक मूल्यों में बद्ध होती है। हम सभी जो किसी-न-किसी प्रकार से हाशिए पर खड़े हैं, जो इस माहौल में फिट नहीं होते - चाहे वो जाति के कारण हो, या जेंडर के, या फिर जाति और जेंडर, दोनों के कारण। हाशियाकरण का बड़ा गहरा बोध होता है लेकिन हम इसे ज़ाहिर नहीं करते हैं क्योंकि हम सभी उस सामान्य छात्र-जीवन का हिस्सा होना चाहते हैं, और इस कारण से हम अपनी विशिष्टता को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते। इसमें बहुत ज़्यादा समय लगता है, मुझे तो लगभग 20-25 साल लग गए, और वह भी बहुत सारी अन्य महिलाओं के अनुभवों को पढ़ने के बाद, जैसे कि एव्लिन फॉक्स केलर जिसे खुद अपने व्यक्तिगत अनुभवों के बारे में बात करने में कई साल लगे। विज्ञान जगत में अन्य महिलाओं के अनुभवों, पुरुष

आधिपत्य वाले विज्ञान व तकनीकी संस्थान में होने का मेरा खुद का अनुभव, दोनों पर विचार करने के बाद, यह समझना कि असल समस्या मुझमें नहीं है - समस्या उस सांस्कृतिक परिवेश में है जो उस जगह पर हावी है।

विवेक: जैसा कि आपने लिखा है, यह ऐसा सवाल भी है जिसे नकारा गया है। ऐतिहासिक तौर पर, विज्ञान में जेंडर के अन्तर की चर्चा अमूमन केवल संख्या के अन्तर के रूप में ही देखी गई है। आपने कहा है कि यह पर्याप्त गहराई नहीं है, और अभी-अभी आपने यह बताया कि किस तरह से यह कहीं ज़्यादा जटिल मसला है। अब किस बात को नज़रअन्दाज़ किया जा रहा है?

चयनिका: एक वजह जिसके चलते एक खास तबके के लोग किसी क्षेत्र में मौजूद नहीं हैं, मसलन विज्ञान के क्षेत्र में महिलाएँ मौजूद नहीं हैं, यह इसलिए हो सकता है कि ये लोग किन्हीं अन्तर्जात कारणों से इस क्षेत्र में होने के काबिल ही नहीं हैं, है न? और विज्ञान में हम यह मान लेते हैं कि हर व्यक्ति अपनी योग्यता और अपने काम के आधार पर परखा जा रहा है, और इसमें किसी दूसरे तरह के पूर्वाग्रहों की कोई गुंजाइश नहीं है। इस तरह आप यह मान लेते हैं कि अगर कुछ लोग वहाँ नहीं हैं तो इसका मतलब है कि उनमें वैसी योग्यता ही नहीं है। लेकिन आज के दौर में भी यह मानना बड़ा अजीब है कि केवल उच्च वर्ण या उच्च वर्ग के पुरुषों - अमेरिका में गोरे आदमियों और यहाँ के ब्राह्मण पुरुषों - में ही इतनी अक्ल है कि वे विज्ञान के क्षेत्र में काम कर सकें। इस तरह के विचार को हमें रुक कर सोचने के लिए बाध्य करना चाहिए।

क्या ऐसा इसलिए है कि अन्य लोगों में योग्यता ही नहीं है या कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ कुछ इस तरह की चीज़ें घटित हो रही हैं जो उन्हें महसूस कराती हैं कि यह उनकी जगह नहीं है? यह अहसास कि यह आपकी जगह नहीं है, कई तरह से अपना असर दिखाती है। किसी संस्था में यह आपको हाशिए पर धकेल देती है। लोग आपका मज़ाक उड़ाते हैं, या फिर आम तौर पर लोग महिलाओं के प्रति हिकारत का भाव रखते हैं। और इतने से ही आप एक प्रकार के आत्मरक्षात्मक रवैये में बँध जाती हैं, जिसका भान आपको उस वक्त नहीं होता है। लेकिन निश्चित तौर पर एक ऐसा दायरा होता है जहाँ आप यह सोचते हैं कि आप उस महिला की तरह तो नहीं होना चाहते जिसका मज़ाक उड़ाया जा रहा है। इस तरह उनकी (मज़ाक उड़ाने वालों की) तरह होने के लिए, उन्हें स्वीकार्य होने के लिए मैं अपने आपको कई

तरह से नकारती हूँ।

अगर संख्याओं पर बारीकी से नज़र डाली जाए तो ये सारे पूर्वाग्रह प्रकट होते हैं। अगर आप विज्ञान में महिलाओं की उपस्थिति पर नज़र डालें तो यह देखेंगे कि केवल सामाजिक कारणों से ही महिलाओं की संख्या कम नहीं हुई है। यह सही है कि एक हद तक यह भी इसका कारण तो है - समाज की यह मान्यता कि महिलाएँ विज्ञान के लिए योग्य नहीं हैं। महिलाओं के ऊपर घर का दोहरा बोझ होता ही है। यहाँ तक कि अगर उनकी शादी वैज्ञानिकों से हुई हो तो भी ऐसा नहीं कि पुरुष वैज्ञानिक घरेलू कामों के लिए समय निकालने वाले हैं। लेकिन इससे भी बढ़कर, मसला यह है कि आप किस तरह से नियुक्तियाँ कर रहे हैं। अगर मैं यह सोचती हूँ कि महिलाएँ पुरुष जितनी योग्य नहीं हैं तो मैं महिलाओं की नियुक्ति उसी तरीके से नहीं करूँगी (जैसे की पुरुषों की करूँगी)। मैं उन्हें उस तरह से प्रोत्साहित नहीं करूँगी। इस तरह मेरे पूर्वाग्रह रिस कर हर जगह फैल जाते हैं - नियुक्तियों में, काम को देखे जाने में, उनके मूल्यांकन में, ग्रॉंट (फण्ड) देने में और इसी तरह अनेक तरीकों से ऐसा होता है।

विवेक: आपने अपने एक हालिया लेख में इस तरफ ध्यान खींचा भी है। आपने भारत और अमेरिका से रपटों और शोधों का हवाला देकर वैज्ञानिक संस्थानों में होने वाले लैंगिक भेदभाव को उभारा है। इसके बारे में कुछ और बताएँ।

चयनिका: करीब से देखने पर मैंने यह महसूस किया है कि स्नातक या स्नातकोत्तर स्तर तक विज्ञान के विषयों और दूसरे विषयों में आने वाली महिलाओं की संख्या (और उनके प्रतिशत) में बहुत अन्तर नहीं है। विज्ञान में भी, यह दिखाने के लिए कि 'हार्ड साइंसेज़' की तुलना में 'सॉफ्ट साइंसेज़' में महिलाओं की संख्या ज़्यादा है, हमारे पास पर्याप्त तथ्य नहीं हैं। लेकिन पिछले 7-8 सालों में यह जानने के लिए कि भौतिक शास्त्र में पर्याप्त संख्या में महिलाएँ क्यों नहीं हैं, दुनिया भर में भौतिक शास्त्र में कार्यरत महिलाओं द्वारा अध्ययन किए गए हैं। और ये देश-व्यापी अध्ययन हैं। भारत में जो पहला अध्ययन हुआ था उसमें विज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही महिलाओं की समस्या को पूरी तरह समाज पर आरोपित कर दिया था। लेकिन बाद के एक अध्ययन में उन महिलाओं का अध्ययन किया गया जो डॉक्टरेट डिग्री के बाद भी विज्ञान के क्षेत्र में सक्रिय थीं और वे जो शोधकार्य को छोड़ चुकी थीं। मुझे लगता है कि इस अध्ययन में जो महत्वपूर्ण दृष्टि उभर कर आई वह यह थी कि हमें न केवल उन लोगों से बात करनी चाहिए

जो इस क्षेत्र में मौजूद हैं बल्कि ज़रूरी है कि हम उन लोगों से भी बात करें जो वहाँ नहीं हैं ताकि यह जाना जा सके कि वे वहाँ क्यों नहीं हैं, और यह भी कि क्या सक्रिय शोध से बाहर होने का उनका फैसला किन्हीं सामाजिक कारणों से था, या फिर इसके कारण (संस्थानों के) भीतर थे।

मुझे लगता है कि इस बदलाव ने एक नए नज़रिए से देखने में मदद की, और इसी के चलते इन महिलाओं की तरफ से माँग भी बदल गई। उन्हेंने कहा कि हमें अकादमिक संस्थानों के कामकाज के तरीकों को बदलना होगा, हमें ऐसी नीतियाँ बनानी होंगी जिनसे महिलाओं को इन संस्थाओं में बने रहने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा - यानी संस्थाओं के भीतर ही बदलाव होने चाहिए। ये अध्ययन समाज-शास्त्रियों ने नहीं किया है। ये वैज्ञानिक की हैसियत से अपनी बात कह रही हैं और इनका कहना है कि समस्याएँ केवल बाहर ही नहीं हैं। समस्याएँ अकादमिक संस्थानों में मौजूद हैं। संस्थान जेंडर-पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। यह जेंडर के आधार पर काफी भेद करते हैं। यह पूर्वाग्रह हर स्तर पर काम करता है - नियुक्तियों में, प्रमोशन में, ग्रान्ट देने में, और दूसरे अनेक स्तरों पर। अब महिलाएँ ज़्यादा मुखर हो गई हैं और वे ज़्यादा खुल कर अपनी बात रख रही हैं, और हम यह देख रहे हैं कि समस्या यह नहीं है कि समाज लोगों को बाहर आने पर मजबूर करता है, या लोगों को काम करते रहने से रोकता है या आगे न बढ़ने के लिए बाध्य करता है, यहाँ (समाज में) समस्या का केवल एक अंश मात्र ही है। काफी हद तक समस्या संस्थानों के भीतर भी है, कि किस तरह से उनमें जेंडर-पूर्वाग्रह हैं, पुरुषवादी सोच है और जिस प्रकार की संस्था-संरचना है वह महिलाओं को भीतर आने से रोकती है।

विवेकः अपने आलेख में आप एक कदम और आगे बढ़ गई हैं, और कहा है, "वैज्ञानिक संस्थाओं का जेंडर-पूर्वाग्रहयुक्त चरित्र दरअसल विज्ञान के हर आयाम के सामान्य पुरुषवादी रुझान से जुड़ा हुआ है।" अगर आलेख में कही गई एक बात को पलट कर कहूँ तो यह पूछना चाहूँगा कि 'बॉयल्स लॉ' में जेंडर कहाँ है?

चयनिकाः यह बड़ी ही अजीब-सी बात है जो आपको लगातार करते रहनी पड़ती है कि पुरुषवादीकरण को अक्सर केवल पुरुषों से जोड़ कर देखा जाता है, है ना? यह सही है कि पुरुष इसमें बसे हैं। लेकिन यह एक व्यापक अवधारणा है, और यह बात मुझे नारीवाद ने सिखाई हैः यह ऐसी चीज़ है जो पुरुषों को विशेषाधिकार प्रदान करती है। बात केवल एक पुरुष होने की नहीं है, उसी तरह जैसे नारीवाद केवल महिला होने की बात नहीं है। किसी

भी जगह को पुरुषों या महिलाओं के लिए तय कर देने की यह सामाजिक प्रक्रिया पुरुषों को विशेषाधिकार देती है और महिलाओं को हाशिए पर धकेल देती है। लेकिन मर्दवाद केवल पुरुषों से सम्बन्धित नहीं है, यह नारीवादी समझ मैं यहाँ साझा करना चाहूँगी। विज्ञान की तटस्थता जिसकी अक्सर बात की जाती है - कि विज्ञान तो वैज्ञानिकों द्वारा की जाने वाली कोई प्रक्रिया है और वैज्ञानिक अपने काम में किसी भी तरह का सामाजिक पूर्वाग्रह नहीं लाते हैं - यह सोच मेरी नज़र में मर्दवादी सोच है। और मैं ऐसा क्यों कहती हूँ यह समझा सकती हूँ। पुरुषवादी सोच का मतलब होता है विज्ञान के प्रति वैज्ञानिकों के नज़रिए की वस्तुनिष्ठता पर ज़्यादा ज़ोर देना। इसका अर्थ है विज्ञान को एक ऐसे प्रोजेक्ट के रूप में देखना जिससे यह बात पुष्ट होती हो कि इस दुनिया का एक वस्तुनिष्ठ सच है, जो कि इसकी व्यक्तिपरकता से इतर है।

मेरा मानना है कि यह अन्तर, और यह अन्तर करने की ज़रूरत अपने आप में एक जेंडर-पूर्वाग्रहयुक्त कार्य है। मामला केवल पुरुष होना नहीं है, न ही यह केवल महिलाओं के दमन की बात है, न ही पुरुषों के पास सत्ता होने का मामला है, यह इन सब से बढ़कर कुछ है। इसका अर्थ है यह कहना कि दुनिया इस तरह से व्यवस्थित की गई है कि वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ में अन्तर किया जा सकता है। और मेरा मानना है कि यही वह चीज़ है जिसे पुरुषवादीकरण कह सकते हैं। यह सामाजिक जड़ों से कटी हुई वैज्ञानिक पद्धति है, जो कि विज्ञान का एक पुरुषवादी रूप ही है। अगर पीछे मुड़कर देखें और विज्ञान के इतिहास को समझने की कोशिश करें तो पाएँगे कि वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ के बीच द्विभाजन, प्रकृति वहाँ बाहर और समाज यहाँ, या अध्ययन यहाँ और प्रकृति वहाँ, इस तरह का द्विभाजन नहीं हो सकता। इस तरह का विभाजन इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों हमेशा एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, और मेरी दृष्टि में यही समझ विज्ञान के पुरुषवादी होने की समझ में बदलाव ला रही है।

जब भी मैं विज्ञान के नारीवादी विश्लेषण की बात करती हूँ, लोग यही सवाल उठाते हैं - तो अगर महिलाएँ यह काम करतीं तो क्या वे 'बॉयल्स लॉ' की खोज नहीं करतीं? क्या गुरुत्वाकर्षण का नारीवादी सिद्धान्त किसी अलग तरह का होगा? बात यह नहीं है कि एक महिला होने के नाते मैं गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को अलग नज़रिए से देखूँगी, लेकिन यह हो सकता है कि एक महिला और एक नारीवादी होने के नाते मैं इस दुनिया को समझने के लिए कोई बिलकुल ही अलग सवाल उठाऊँ। हो सकता है कि मैं दुनिया में हर चीज़ को समझने के लिए किसी एक सरल-से नियम

की खोज ही न करूँ। हो सकता है कि यह मेरी तलाश ही न हो। हो सकता है कि हम दुनिया को बिलकुल अलग ही नज़रिए से देखें और हो सकता है हम उन पुराने तौर-तरीकों का उपयोग ही न करें।

इनमें से कई बातें पिछले कुछेक सालों में गलत सिद्ध हो चुकी हैं, जैसे यह कि भौतिक शास्त्र की पद्धति को विज्ञान के हर विषय में इस्तेमाल करना चाहिए या यह कि विज्ञान की पद्धति को सामाजिक विज्ञान में भी इस्तेमाल किया जाना चाहिए। हमने यह सब अब बदल दिया है। और ऐसा हो पाया है क्योंकि हम यह समझ सके हैं कि इस तरह का द्विभाजन है ही नहीं। और सभी वैज्ञानिक विषयों में सबसे कठिन भौतिक शास्त्र के लिए भी यह मानना बेहतर होगा कि यह द्विभाजन अपने आप में गलत है। हमारी इस बात से आप यह समझ सकते हैं कि आपको कोई नारीवादी 'बॉयल्स लॉ' नहीं मिलने वाला है। लेकिन यह ज़रूर होगा कि विज्ञान के पूरे ज्ञानात्मक ढाँचे में 'बॉयल्स लॉ' की उपस्थिति अलग होगी - वह सबसे ज़रूरी चीज़ नहीं होगी।

और मुझे लगता है कि इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, विज्ञान में बहुत सारी चीज़ें हैं जो हमारी समझ में बहुत ही ज़्यादा जेंडर-पूर्वाग्रह से युक्त हैं। पुरुषवादीकरण को समझने के लिए शायद लोगों को नारीवाद समझना होगा और उन्हें नारीवाद को स्त्री के शोषण के आगे जाकर समझना होगा। मेरे हिसाब से यह सबसे महत्वपूर्ण बात है, परिवर्तन की शुरुआत है।

विवेक: अभी-अभी आपने एक बहुत ही रोचक और ज़रूरी आयाम की ओर इशारा किया है - आपने विज्ञान की प्रकृति और विज्ञान के इतिहास की बात कही, यह ऐसी चीज़ें हैं जो स्कूलों में नहीं पढ़ाई जातीं। खुद विज्ञान का छात्र होने के बावजूद मैंने इस बारे में कभी नहीं पढ़ा। लेकिन विज्ञान के बारे में नारीवादी अध्ययनों ने विज्ञान-शिक्षण की बहस को नई दिशा दी है। जैसा कि आपने अपने एक शोध-पत्र में ज़िक्र किया है, यह 'रेडीमेड' विज्ञान से 'रचने की प्रक्रिया' के विज्ञान की तरफ एक मोड़ है। क्या आप इस पर कुछ और रोशनी डालेंगी?

चयनिका: खास तौर पर अपने बारे में कहूँ, तो वह एक कारण जिसके चलते मैंने विज्ञान को अपने आप से बहुत दूर और अलग-थलग पाकर वैज्ञानिक शोध आगे जारी न रखने का फैसला किया, वह था विज्ञान का मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से बहुत ही अलग-थलग होना।

अगर पीछे मुड़कर विज्ञान के इतिहास पर नज़र डालें, विज्ञान के समाजशास्त्र

पर नज़र डालें और आम तौर पर वैज्ञानिक अध्ययनों को देखें, तो मुझे लगता है कि यह एक क्षेत्र है जिसमें विज्ञान में अभी बहुत कमियाँ हैं, जैसा कि हमने पहले बात की थी। यह विभाजन इतना प्रबल है कि हम वास्तव में जो पढ़ाते हैं वह तो बस अन्तिम नतीजा ही होता है। ये खोजें किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुईं थीं इसके बारे में बात करने की परवाह हम कभी भी नहीं करते हैं। हम कभी इस बारे में बात करने की परवाह नहीं करते कि इन चीज़ों का समाज पर क्या असर पड़ा है। हम इसकी भी परवाह नहीं करते कि जब इन विचारों पर बातचीत चल रही थी तो उस वक्त कैसी बहसें होती थीं। कहीं-न-कहीं, हम यह कह रहे हैं कि इन सिद्धान्तों को विज्ञान की रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में रखने से ये विभाजन खत्म हो सकता है - दोनों को पास लाइए, एक-दूसरे के साथ रखिए, यह मानिए कि विज्ञान पर समाज का प्रभाव है और समाज पर विज्ञान का, और इसे शिक्षा में शामिल कीजिए।

इससे बहुत सारे लोगों को, जो विविध प्रकार से हाशिए पर धकेले गए हैं, चाहे वे महिलाएँ हों, अश्वेत हों, या इस देश में दलित, वे सभी लोग जो यह महसूस करते हैं कि यह क्षेत्र उनके लिए खुला नहीं है, हो सकता है इससे उन्हें आकर्षित करने में और सम्बद्ध रखने में मदद मिलेगी। क्योंकि इस तरह से शायद वे महसूस करेंगे कि विज्ञान उनकी पहुँच में है, ज़्यादा वास्तविक है, उनकी ज़िन्दगी और जिस दुनिया में वे रहते हैं उससे जुड़ा हुआ है। इससे विज्ञान भी समृद्ध होता है। इस तरह आप विज्ञान के बारे में ऐसे बात करते हैं जैसे कि वह ऐसी चीज़ हो जिसका निर्माण इन्सानों ने किया है, साधारण इन्सानों ने। इसलिए वह ऐसा ज्ञान है जो समाज के भीतर से निकला है, और किसी दूसरे ज्ञान की ही तरह उसके भी सांस्कृतिक आयाम हैं।

मुझे लगता है कि हम विज्ञान के पाठ्यक्रमों में और शिक्षा में विज्ञान पढ़ाते हुए कोशिश करते हैं कि उसे अन्तिम वस्तु की तरह पेश न करें। हम उसे ऐसे पढ़ाने की कोशिश करें जैसे उसका विकास हुआ है, उसके इतिहास, समाजशास्त्र, उसकी स्थिति, और उसके बारे में तमाम बहसों को समेटते हुए, जोकि बहुत ज़रूरी है। ये वो चीज़ है जिसे हमने पूरी तरह नज़रअन्दाज़ कर दिया है। वैज्ञानिक पद्धति के बारे में हम मानते हैं कि सारे वैज्ञानिक इसे अपने आप जानते हैं, लेकिन यह वो चीज़ है जिसे हम बिलकुल नहीं पढ़ाते हैं। लेकिन हम सब की मान्यता है कि विज्ञान वस्तुनिष्ठ है - क्योंकि हम उसे इसी तरह पढ़ाते हैं - कि वह बस एक प्रकार का ज्ञान है जिसे लोग कहीं से सीख लेते हैं और जो हमें दुनिया के बारे में बताता है।

विवेकः आपने विज्ञान शिक्षण पर एक पाठ्यक्रम के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिसमें विज्ञान में नारीवादी अध्ययनों और उन पक्षों को शामिल किया गया है जिनके बारे में आपने बात की। यह एक महत्वपूर्ण बदलाव है। इस पाठ्यक्रम पर विद्यार्थियों की क्या प्रतिक्रिया है? और आपकी अपनी समझ पिछले कुछ सालों में किस तरह से बदली है?

चयनिकाः आखिरी बात से शुरू करते हुए, जैसा कि आपने पहले पूछा था, मुझे लगता है कि 'एक रचना-प्रक्रिया के रूप में विज्ञान' और 'अन्तिम उत्पाद के रूप में विज्ञान' की मेरी समझ इस कोर्स के अध्यापन के मेरे अनुभव से आई है। इस तरह इससे मुझे शिक्षा और विज्ञान शिक्षण के विमर्शों को समझने में भी मदद मिली है। मैं इस क्षेत्र में नारीवाद की अपनी उस समझ और विज्ञान की अपनी उस समझ के साथ आई थी जिस तरह से मुझे ये पढ़ाए गए थे। मैं शिक्षा और विज्ञान के विषयों से रूबरू हुई और इससे नारीवादी आलोचनाओं की मेरी समझ पर प्रभाव पड़ा है। नारीवादी

टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, मुम्बई के एम.ए. (ऐलीमेंट्री एजुकेशन) कोर्स में एक वैकल्पिक विषय के तौर पर पढ़ाया जाने वाला यह विषय न केवल विज्ञान के शिक्षाशास्त्र बल्कि उसके स्वरूप और उसकी प्रकृति पर भी एक समालोचनात्मक नज़रिया प्रस्तुत करता है। कोर्स के तहत, सामाजिक विज्ञान की कुछ प्रमुख धाराओं जैसे, समाज-शास्त्र, इतिहास व दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से भी विज्ञान की विषयवस्तु और उसके संरचनात्मक ढाँचे को समझने की कोशिश रहती है। इस सम्बन्ध में दुनिया में चल रही विभिन्न विचारधाराओं और आन्दोलनों जैसे पर्यावरण आन्दोलन, नारीवादी आन्दोलन आदि ने पिछले कुछ सालों में किस-किस तरह के सवाल उठाए हैं और उसके चलते शिक्षा और विशेषकर विज्ञान शिक्षा के लिए किस तरह के सवाल और रास्ते खुलते हैं, इन मुद्दों पर भी गम्भीरता से विचार किया जाता है। चूँकि ये सवाल नए नहीं हैं और अलग-अलग समय पर अलग-अलग तरीकों से इनसे निपटने की कोशिशें लोग, विशेषकर शिक्षाशास्त्री लगातार करते आए हैं तो थोड़ी बातचीत देश और विदेश स्तर पर हुए प्रयासों, उनके अनुभवों और समकालीन शोध पर भी होना स्वाभाविक ही है। इस कोर्स में कोशिश यह नहीं है कि विज्ञान या विज्ञान शिक्षण के बारे में सभी छात्र-छात्राएँ एक जैसा सोचने लग जाएँ बल्कि जो जिस भी सोच-समझ के साथ आ रहे हैं, वे उस समझ पर सोचना-विचारना, आत्ममन्थन शुरू कर सकें और हम कहीं एक ऐसी दिशा में बढ़ सकें जहाँ विज्ञान और विज्ञान शिक्षा पर कड़े सवाल पूछने और उनसे जूझने का एक माहौल बने।

आलोचना को भी मैं बाकियों की तरह ही देख रही हूँ, एक प्रकार की आलोचना की तरह। विज्ञान की अन्य आलोचनाएँ भी हैं, जैसे कि उत्तर-औपनिवेशिक आलोचनाएँ और मैं नारीवादी आलोचनाओं को भी इन्हीं में एक मानती हूँ। इसी तरह जहाँ शिक्षा की बात है, हम यह देखते हैं कि बाकी विषय किस तरह पढ़ाए जा रहे हैं और यह जानने की कोशिश करते हैं कि विज्ञान किस तरह से अलग है, और किस तरह एक परिप्रेक्ष्य में रख कर उसे अलग नज़रिए से देखा जा सकता है।

जहाँ तक उस कोर्स की बात है, मुझे लगता है कि मैं खुशनसीब रही हूँ क्योंकि हमारे पास बहुत कम विद्यार्थी थे और एक बार फिर, मुझे लगता है कि विज्ञान शिक्षण का सवाल आ जाता है, आप उस दिशा में जाना चाहते हैं या नहीं। दूसरी बात यह है कि लोग शिक्षाशास्त्रीय पाठ्यक्रम चाहते हैं। यानी वे ऐसा कोर्स नहीं चाहते जिसमें शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण की बराबर जगह न हो। जहाँ तक इस कोर्स की बात है इसमें शिक्षाशास्त्रीय नज़रिया तो है ही, साथ ही ये विज्ञान को भी आलोचनात्मक नज़रिए से देखता है।

हमारे पास बहुत कम विद्यार्थी थे, लेकिन वे सब बहुत अच्छे विद्यार्थी थे। और हर बैच में दो-तीन ऐसे विद्यार्थी रहे हैं जो विज्ञान शिक्षण के क्षेत्र में इसी तरह से सक्रिय रहे हैं। और मेरे लिए यह बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि चीज़ों के बारे में इस तरह से बात करने वाले लोग बहुत कम हैं। इस दृष्टि से देखें तो किसी भी पाठ्यक्रम को जो काम करना चाहिए - कुछ लोगों में जिज्ञासा जगाने का काम, विचारों को आगे ले जाने का काम और विषय को और भी समृद्ध बनाने का काम, चार या पाँच साल के छोटे-से समय में ही इस कोर्स ने कर दिखाया है।

और यह हमेशा आसान नहीं रहा है, क्योंकि एक तरह से ये आपको खुद भी अन्दर से हिलाता है। जिस बात पर लोग सबसे ज़्यादा प्रतिक्रिया देते हैं वो है नारीवाद को विज्ञान में लाने की कोशिश। ये लोग इतिहास, दर्शन या समाज शास्त्र को विज्ञान से जोड़ने पर कुछ नहीं कहते, लेकिन नारीवाद को विज्ञान में लाना उन्हें असहनीय लगता है। लेकिन इससे लोगों पर कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है। वे कुछ अलग हट कर सोचने पर मजबूर हो जाते हैं।

लोग चाहे जिस तरह से या जिस जगह पर हों, अगर वे चीज़ों पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार हैं तो वे आगे बढ़ते हैं। लेकिन अगर वे पुनर्विचार करने के लिए तैयार नहीं हैं, और हमारे पास कुछ ऐसे विद्यार्थी भी थे जो मानते थे कि ये थोड़ा ज़्यादा हो रहा है, ऐसे में उनके तर्क और भी ज़ोरदार हो

जाते थे। इसलिए मेरा मानना है कि ये हर विद्यार्थी के लिए चीज़ों से जूझने की गुंजाइश बनाता ही है। ऐसा नहीं है कि हर कोई उसी तरह से सोचने लगता है जैसे मैं सोचती हूँ, यह इस कोर्स का मकसद भी नहीं है। लेकिन यह हर व्यक्ति को सोचना शुरू करने के लिए प्रेरित तो करता ही है, और मुझे लगता है कि यही बात तो किसी भी कोर्स में होनी चाहिए, और इस तरह मेरा मानना है कि यह एक सफल कोर्स रहा है।

चयनिका शाहः एक नारीवादी व समलैंगिक अधिकार कार्यकर्ता हैं। भौतिक शास्त्र में पीएच.डी. हैं और मुम्बई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध एक महाविद्यालय में बीस साल से भी ज़्यादा समय तक अध्यापन किया है। इसके अलावा मुम्बई स्थित टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ में स्नातकोत्तर स्तर पर 'नारीवादी विज्ञान अध्ययन' और 'विज्ञान शिक्षण' जैसे पाठ्यक्रम बनाए हैं व उनका अध्यापन किया है। 'भारत की छाप' व 'वी एंड अवर फर्टिलिटीः दी पॉलिटिक्स ऑफ टेक्नोलॉजिकल इंटर्वेन्शन' नामक किताबों का सह-लेखन किया है।

विवेक वेलांकीः टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़, मुम्बई से एलीमेंटरी एजुकेशन में एम.ए. किया है। आरआरसीईई, दिल्ली से सम्बद्ध।

अँग्रेज़ी से अनुवादः लोकेश मालती प्रकाशः दिल्ली विश्वविद्यालय से राजनीति विज्ञान और विधि का अध्ययन किया है। भोपाल में रहकर स्वतंत्र लेखन एवं अनुवाद कार्य कर रहे हैं। शिक्षा के आन्दोलन से सक्रिय रूप से जुड़े हैं।

पृष्ठ 78 पर दिया गया बॉक्स **हिमांशु श्रीवास्तव** ने तैयार किया है। हिमांशु होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन से पीएच.डी. कर रहे हैं।

यह साक्षात्कार मूलतः आरआरसीईई, दिल्ली द्वारा शिक्षा पर चलाए जा रहे पोडकास्ट सीरीज़ के अन्तर्गत लिया गया था।

दुश्मन मेमना

ओमा शर्मा

हम दोनों मनोचिकित्सक डॉक्टर अशोक बैंकर के केबिन के बाहर इन्तज़ार में बैठे हैं। समीरा केबिन के अन्दर है। हम तीनों को साथ अन्दर देखकर शायद वे भाँप गए थे कि मामला क्या है। क्या सचमुच?

''समीरा... आह, योर नेम इज़ सो लवली... लाइक यू... किसने रखा?'' मुस्कान छिड़कते हुए वे चहके।

''मम्मा ने,'' समीरा सकुचाते हुए फुसफुसाती है।

''सिर्फ मम्मा ने... पापा ने नहीं?'' जोश के साथ वह हाज़िर जवाबी दिखाते हैं। अस्पताल में घुसने और एपॉइंटमेंट के बावजूद इन्तज़ार करने से आ चिपकी उबासी को उन्होंने मिलते ही झाड़-पोंछ दिया... जैसे किसी छतनार वृक्ष के नीचे से गुज़रते हुए भी ठण्डक महसूस होती है। निमिष भर को मुझे इसकी पैदाइश के बाद का वह वक्त याद आता है जब हमने उन साझे मार्मिक पलों में अपने नामों,

'सत्या' और 'मीरा', की सहज सन्धि से इसका नाम 'समीरा' सृजित कर लिया था।

"दूसरे का अब क्या नाम रखेंगे?" मैंने मीरा की तरफ कौतुक प्रस्ताव रखा।

"ना बाबा, ना। एक बच्चा बहुत है।"

शायद सिज़ेरियन के टाँके अभी हरे थे।

लेकिन समीरा के तीन बरस का होते-होते हमने तय कर लिया था कि दूसरा बच्चा नहीं करेंगे। जो है उसी को अपना सब कुछ देंगे।

उस फैसले पर कभी पुनर्विचार नहीं किया।

हाँ, कभी इन दिनों ये ज़रूर लगता है कि एक बच्चा ही दूसरे बच्चे की कम्पनी होता है। एक भली-चंगी बच्ची अचानक घुन्ना हो जाए, पढ़ाई-लिखाई पर तवज्जो देने की बजाय इन तथाकथित सोशल नेटवर्किंग साइट्स की गिरफ्त में पड़ जाए और माँ-बाप कुछ कहें तो सीधे खुदकुशी का रास्ता पकड़े तो इससे ज़्यादा कम्युनिकेशन गैप और क्या होगा?

खैर, अब जो भी है, जैसा भी है, सम्भालना है।

एक अच्छे और नामी डॉक्टर की साख में खुशमिज़ाजी कम बड़ी भूमिका नहीं अदा करती होगी।

"ओके। तो समीरा, मुझे वे तीन कारण बताओ ताकि मैं तुम्हारे मम्मी-पापा को शूट कर सकूँ," नाटकीय गम्भीरता से वह उससे पूछते हैं। साथ में तीन उंगलियों से संकेतार्थ पिस्तौल-सी चलाते हैं।

समीरा समेत हम सबके चेहरे खिल उठते हैं।

"तीन कारण, एक, दो और तीन। बताओ बताओ।" पहले समीरा कुछ हँसकर रह गई थी, जवाब नहीं दिया था इसलिए वह उससे बजिद उगलवाने-सा लगे।

"मेरा मोबाइल ले लिया।"

साहस और संजीदगी से वह पहला कारण बताती है।

"ये एक हो गया। जोशीजी यह आपको नहीं करना चाहिए था। मोबाइल तो इन दिनों ज़रूरी खिलौना है।"

शायद पेशेगत रणनीति के अन्तर्गत

उन्होंने निशाना साधते हुए जोड़ा।

"लिया नहीं डॉकसाब, बस रात को अलग रखने को कहा है।" मैं बड़े ताव से अपनी बात कहता हूँ - जैसे कोई फैमिली कोर्ट लगी हो।

"मगर क्यों?" वह ज़ोर देकर कहते हैं, मानो समीरा के पेरोकार हों।

समीरा के चेहरे पर एक मीठी जीत उभर आई है।

"क्योंकि यह देर रात तक बीबीएम पर रहती है।"

"ब्लैकबेरी है इसके पास?" वह थोड़ा चौंककर पूछते हैं। उसके विज्ञापन 'इट्स नॉट ए फोन, इट्स व्हाट यू आर' का असर दिख रहा है।

"क्या करते? इसकी ज़िद थी... कि सारे फ्रेंड के पास है।"

मेरी मजबूरी को अनसुना करते हुए वह फिर समीरा की तरफ हो लिए।

"ये तो बड़ी अच्छी बात है। मैं भी बीबीएम पर हूँ। इट्स ए ग्रेट फैसिलिटी। मैं तुम्हें अपना पिन दे दूँगा समीरा। विल यू बीबीएम मी?"

मित्र होते जा रहे डॉक्टर की बात का वह हामी में गर्दन हिलाकर जवाब देती है।

"सो, दैट्स वन, समीरा... टेल मी टू अदर रीज़न्स टू शूट देम..."

इस पर समीरा की पुतलियाँ संकोच में हमारी तरफ घूमकर लौट जाती हैं।

डॉक्टर बैंकर ने बाकायदा लक्ष्य किया।

"मैं और समीरा ज़रा अकेले बतियाएँगे... इफ यू डोंट माइंड..." उन्होंने इरादतन हमें बाहर जाने का इशारा किया।

"ज़रूर, ज़रूर," कहकर मीरा और मैं बाहर आ गए।

बाहर डॉक्टर बैंकर से मिलने वाले मरीज़ों की अच्छी खासी कतार है। साइकैट्रिक वॉर्ड रूप-रस-गन्ध, हर लिहाज़ से दूसरों से कितना अलग होता है। हमारे बाद नौ-दस लोग और होंगे। शाम के सात बज रहे हैं। चमकती आँखोंवाली जो अधेड़ औरत हमसे पहले अन्दर गई थी - वही जो साथ आए पुरुष के साथ तगड़ी बहस करने में लगी थी - पूरे पौने घण्टे के बाद बाहर निकली। इस हिसाब से तो डॉक्टर को घर जाने में ग्यारह बजेंगे। इस इलाके में जल्दी नहीं चलेगी। एक चालीस छूती गृहस्थिन है, थोड़ी थुलथुल, स्लीव-लेस में, खासी ग्लॉसी लिपिस्टिक पोते। चेहरे की हवाइयाँ-सी उड़ी हुई एक आधुनिक-सी युवती है... गोरी, पतली, थ्री-फोर्थ चिपकाए, कई जगह से कान छिदाए। एक अपेक्षाकृत निम्न मध्यवर्गीय जोड़ा है। इन्हें भी यहाँ आना पड़ गया? कतार में बच्चा सिर्फ एक और है, अपने पिता के साथ। होगा कोई चक्कर। पहले साइकैट्रिस्ट के पास जाने का मतलब था पागलपन का इलाज कराना। अब तो चीज़ें बदल रही हैं। हालाँकि, एक बेनाम पोशीदगी अभी

भी खूब भटकती-फिरती है। उस दिन कोई बता रहा था कि मेडिसिन में इन दिनों साइकैट्री और न्यूरोलॉजी टॉप पर चल रही हैं। अमरीका में तो सबसे ज़्यादा माँग इन्हीं लोगों की है।

"तुमसे तो यह पहले काफी बातें कर लेती थी, अब नहीं करती है?" मैं थोड़ा ऊँघते हुए मीरा की तरफ एक बात-सी रखता हूँ।

वह 'हूँ'-सा कुछ कहती है।

मतलब, किसी गैर-ज़रूरी-से सवाल का क्या जवाब देना!

हो सकता है उस माहौल को देखकर उसके भीतर कोई उधेड़बुन शुरू हो गई हो।

"टीचर्स को हमें पहले बताना चाहिए था। मुझे लगता है पेज-थ्री वाले परिवारों के बच्चों की संगत का असर है। अपने बिगड़ैल माँ-बाप की तरह वे भी बड़े ऐबखोर होते हैं... गन्दगी को इतनी नज़दीकी से रोज़ जो देखते हैं... दोस्तों के बीच उनके बच्चे माँ-बाप को 'दैट वूमन-दैट मैन' जैसा कहकर बात करते ज़रा नहीं हिचकते हैं..."

वह फिर चुप रहती है।

"अरे, ऐसा क्या हो गया अभी?"

मक्खी मारता-सा मैं अपनी नज़र सामने टंगे टीवी पर लगाता हूँ जिस पर सत्तर के दशक की कोई हिन्दी फिल्म चल रही है... लॉकेट, कार रेस, बेलबॉटम और मल्टी हीरो-हीरोइनें। एक अन्तराल के बाद स्मृति के रास्ते साधारण चीज़ें भी कैसा चुम्बकीय आकर्षण फेंकने लगती हैं। क्या इसी को साधारणता का रोमांस कहेंगे... एक ऐसी साधारणता जिसमें ऐसी दुर्निवार जटिलताएँ नदारद कि अपने ज़रा-से बच्चे से आप खुलकर बात तक न कर पाएँ... उसे लेकर आप सोचते रहते हैं, रणनीति बनाते हैं, परेशान होते रहते हैं मगर कर कुछ नहीं पा रहे होते हैं। उसकी हर नाकाबिले-बरदाश्त चीज़ को सहनीय मान लेते हैं... किसी अपने के साथ एक लाचार दूरी के निर्वात में फँसना कैसा दमघोंटू होता है!

कुछ देर बाद मुस्कराते हुए समीरा बाहर निकली और हमें अन्दर जाने का इशारा किया। दरवाज़ा भेड़कर सम्भलते हुए हम डॉक्टर के सामने बैठे और धड़कती उतावली में वस्तुस्थिति जाननी चाही।

"इट्स प्रैटी बैड!" उन्होंने खासे रूखेपन के साथ कोई तमाचा-सा जड़ दिया।

"पता नहीं डॉकसाब। दो साल पहले तक तो सब ठीक-ठाक था। उसके बाद इसके रवैए में बहुत बदलाव आ गया..."

"अरे मैं कुछ पूछ रहा हूँ और आप कुछ और बता रहे हैं," उन्होंने टोका।

लगा, जैसे ईशान अवस्थी (तारे ज़मीन पर) के पिता के बतौर मैं निकम सर से मुखातिब हो गया हूँ।

"ऐसा तो कुछ नहीं हुआ कि इसे वह सब करना पड़े जो यह करने की

धमकी देती है," मीरा ने शाइस्तगी से बात जोड़ी।

"देखिए मिसिज़ जोशी, यह तो सोचने-सोचने की बात है। जो बच्चे वैसा करते हैं, उनके माँ-बाप भी अपनी निगाह में वैसा कुछ नहीं करते-कहते कि बच्चे को वह कदम उठाना पड़े जो वह उठा लेता है..."

उनकी बात से हामी भरते हुए हम चुप बने रहे।

"कल के अलावा पहले भी यह तीन बार कोशिश कर चुकी है।"

"तीन!"

हम दोनों विस्मय-से काँप उठते हैं। एक सम्भावित त्रासदी से ज़्यादा उसके जीवन से बेदखल और फिज़ूल होते अपने जीवन की त्रासदी से। दिन-रात उसकी खुशी के लिए खाक होते हम जैसे कुछ नहीं...एक अनजान डॉक्टर ज़्यादा भरोसेमन्द हो गया। चलो, ये भी ठीक!

"हाँ, तीन बार। लेकिन आप लोग उससे इस बाबत कोई बात नहीं करेंगे - अगर उसका भला चाहते हैं तो।" उनके लहज़े में संगीन हिदायत है। 'तो' को उन्होंने ज़ोर देकर स्पष्ट किया।

"नहीं करेंगे... लेकिन डॉकसाब हम क्या करें? पूरी छूट दे रखी है। शायद थोड़ी कम देते तो यह नौबत न आती। इंग्लिश म्यूज़िक, रोडीज़ और फेसबुक की यह ऐसी एडिक्ट हो गई है कि पढ़ना-लिखना तो छोड़िए खाना-पीना तक निगलैक्ट करती है। एक बात नहीं सुनती।"

"नथिंग अनयुज़्अल इन दैट।" वह किसी परमज्ञानी की तरह मेरा मन्तव्य समझकर मुझे रोकते हैं और कहते हैं, "टेक्नोलॉजी ने हमारे समाज में इन दिनों बड़ा तहस-नहस मचाया हुआ है। आप और हम इस संक्रामक बीमारी से बचे हुए हैं तो अपनी नाकाबिलीयत के कारण। ये लोग जिन्हें हम यंग अडल्ट्स कहते हैं, बहुत सक्षम हैं... ये टेक्नोलॉजी की हर सम्भावना को छूना चाहते हैं... बिना ये जाने-समझे कि उससे क्या होगा। आपकी बच्ची अलग नहीं है। मेरे पास आने वाले दस टीनेज पेशेन्ट्स में से आठ इसी से मिले-जुले होते हैं..."

"क्या करें डॉकसाब? मिडिल क्लास लोग हैं हम... लड़की का अपने पैरों पर खड़े होना कितना ज़रूरी है..." एक तबील अनकही के बीच हाँफता-सा मैं जैसे अपनी चिन्ताओं का अर्क उन्हें सौंपने लगता हूँ।

"नॉट टू वरी जोशी जी। ये बिलकुल ठीक हो जाएगी। शी विल बी ऑलराइट शॉर्टली।" हमें उबारते हुए वह अपने लैटर हैड पर फ्लूडैक (फ्लैक्सोटिन) का प्रिस्क्रिप्शन लिखते हैं जिसे दोपहर खाने के बाद लेना है। थायोराइड सहित दो-चार टैस्ट कराने होंगे और एक काउंसलर, कोई तनाज़ पार्डीवाला, का मोबाइल नम्बर लिखते हैं। हमारे भीतर उगते शंकालु भावों को भाँपते हुए वह कहते हैं, "द सिरप इज़ जस्ट ए मूड एलिवेटर... आजकल इस उम्र के बच्चों में विटामिन डी-थ्री की कमी बहुत हो रही है... टीवी-कंप्यूटर पर लगे रहने से... आई जस्ट वांट टू रूल आउट दैट... पार्डीवाला बहुत अच्छी साइकोथेरेपिस्ट हैं।" उन्होंने बताया कि वह समीरा के फेसबुक फ्रेंड बनने वाले हैं... टू पीप इन्टू हर रीयल माइंडसेट... बीबीएम है ही...।

हमारा दिल अचानक आश्वस्त होने लगा है, मियाँ की जूती मियाँ के सिर वाले अन्दाज़ में। तभी उन्होंने बाहर बैठी समीरा को अन्दर बुलाया और बात का सन्दर्भ और लहज़ा बदल कर घोषणा-सी करते बोले, "एक्चुअली, समीरा बहुत टेलेंटड लड़की है, और बेहद स्वीट भी।" उन्होंने अपनी बात यूँ रखी मानो अभी तक की जा रही हमारी गुफ्तगू का वह लब्बोलुआब हो। मैं उनकी जादुई हौसला अफज़ाई का असर देख रहा हूँ।

"शी इज़ ए जैम डॉकसाब बट...," बैंकर की राय के समर्थन में परन्तु खोंपते ही मीरा का गला भर्रा उठा और फौरन से पेश्तर वह फफक भी पड़ी। मैं हक्का-बक्का था मगर समीरा ने लपककर उसे

पकड़ लिया और कातर मासूमियत से धीमे-से बोली, "मम्मा, क्या हुआ?"

गनीमत रही कि मीरा ने खुद को बिखरने नहीं दिया।

***

ये जो दुनिया है, वही जिसे हम रोज़ गाली देते हैं, दरअसल उतनी खराब है नहीं, जितनी हम कभी सोचने लगते हैं। पता लगा कि पार्डीवाला और डॉक्टर बैंकर, दोनों समीरा की फेसबुक पर हैं। आपस में बीबीएम करते रहते हैं। यानी वही सब जिसने एक बीमारी की तरह समीरा को घेर रखा था, उसके ओनों-कोनों में झाँकने की पगडण्डियाँ बने हुए हैं। किसी आम अविवाहित पारसी की तरह पार्डीवाला थोड़ी खब्ती लगती हैं लेकिन अपने काम में हैं बड़ी पेशेवर। पहले मीरा से एक के बाद एक ई-मेल लिखवाए, कुछ बिन्दुओं पर स्पष्टीकरण लिए। पूरी जन्मपत्री चाहिए थी उन्हें समीरा की... कब कहाँ कैसे पैदा हुई, नॉर्मल या सिज़ेरियन, गर्भकाल कैसा था, समीरा की पसन्द-नापसन्द, एनी हिस्ट्री ऑफ डिप्रेशन इन फैमिली, परिवार में किसके साथ अटैच्ड है, दादा-दादी, नाना-नानी, बुआ-मौसी के साथ कितनी घुली-मिली है, एनी नोन (known) एपिसोड ऑफ एब्यूज़, दोस्त कौन हैं, उनके परिवार और माँ-पिता की मुख्तसर जानकारी, हमारा किन लोगों के साथ उठना-बैठना रहता है, पिता के बिज़नेस की स्थिति और उसमें आते उतार-चढ़ाव। यानी उन्हें एक-से-एक ज़रूरी-गैर-ज़रूरी तफसील चाहिए थी। कभी तो लगा कि तफसीलों के अम्बार में कुछ इस्तेमाल भी होगा या यह सब उलझाने और टाइम-पास करने के लिए है। कहीं पढ़ा था मैंने कि समस्या के बारे में बोल-बतियाकर उससे आधी निजात तो आप वैसे ही पा लेते हैं।

यहाँ पता नहीं क्या चल रहा है।

खैर, कर भी क्या सकते हैं!

पार्डीवाला खूब बहुरूपनी हैं। समीरा के साथ छह-सात सैशन कर चुकी हैं। क्या होता है उन दोनों के बीच वह न समीरा हमें बताती है और न पार्डीवाला। समीरा उनके पास से लौटकर बड़ी खुश दिखती है। बीबीएम से ही एपॉइन्टमेंट होता है और समीरा को वहाँ छुड़वा दिया जाता है। होमवर्क के तौर पर समीरा को ई-मेल भेजने होते हैं जिनकी विषय-वस्तु से हमें कोई सरोकार नहीं रखना होता है। यहाँ तक तो ठीक है मगर अब यही बात मीरा और पार्डीवाला के बीच चल रहे संचारण पर भी लागू होने लगी है। डॉ. बैंकर और पार्डीवाला समीरा से जुड़ी बातों को लेकर तब्सरा करते रहते हैं। आखिर हम सबका मकसद तो वही है। समीरा की हालत में कथित तौर पर सुधार हो रहा है हालाँकि, आदत से मजबूर मैं रात को उठकर समीरा के कमरे में झाँक लेता हूँ कि ठीक-ठाक सो तो रही है या कुछ...। वैसे इसके मायने क्या समझे जाएँ कि मैं उसके साथ ज़्यादा क्या,

बिलकुल भी टोका-टाकी न करूँ!

"बिगड़ने दूँ?" तक का भी जवाब सपाट 'हाँ' है।

मामला नाज़ुक है। सब्र से काम लेना पड़ेगा।

***

उतरती दोपहरी को कुछ अप्रवासी निवेशकों के साथ एक कम्पनी की विस्तार योजनाओं पर मशवरा कर रहा था कि डॉक्टर बैंकर के फोन को देखकर चौंक पड़ा।

दो महीने के वकफे में मेरा फोन शायद उन्होंने पहली बार बजाया था।

"सत्यपाल जी, आप शाम को छह बजे आ सकते हैं मेरे पास?" इधर-उधर की कोई बात किए बगैर उन्होंने पूछा।

"ज़रूर डॉकसाब ज़रूर... मगर आज छह बजे तो समीरा की डाँस क्लास है।"

"आई नो दैट। मगर सिर्फ आपको आना है। मीराजी की भी ज़रूरत नहीं है। ओके।"

डॉक्टरों की यह पेशेवर इन्सानियत वाली अदा मुझे अच्छी लगती है। उनके सुलूक में आपको कभी रूखेपन की बू आ सकती है मगर अमलन वह आपकी समस्या को सम्बोधित रहते हैं। यह नहीं कि किसी राहगीर की तरह ऊपर-ऊपर से हमदर्दी के आँसू बहा लो मगर करो कुछ नहीं और चलते बनो।

कॉलेज में जब पढ़ता था तो इस थीम के आसपास किसी यूरोपियन लेखक की किताब भी पढ़ी थी। अब तो कम्पनियों के ट्रायल बैलेंस और फायनैंशियल्स ही पढ़ता हूँ। मुझे तो डॉक्टर बैंकर का काम बड़ा पसन्द है। समीरा भी उनके साथ ऐसी हिल-मिल गई है कि एक दिन अपनी मम्मी से पूछ रही थी कि साइकैट्रिस्ट बनने के लिए क्या करना पड़ता है। जब बताया तो उसने कहा कि इससे अच्छा तो फिर कांउसलर बनना है... काम वही और मेहनत कम। जो भी है, कम-से-कम कुछ तो अब वह सोचने लगी है... कि क्या करना है... या यह कि कुछ करना भी चाहिए... वरना अभी तो हमें उसके बारे में सोचना तक गुनाह था। हमारी किसी भी सीख-तज़वीज़ पर जब देखो तब 'चिल' कहकर पल्लू झाड़ लेती है।

यही सब सोचते हुए जब डॉक्टर बैंकर के यहाँ पहुँचा तो सुखद आश्चर्य यही लगा कि ज़्यादा भीड़ नहीं थी। उनकी रिसेप्शनिस्ट ने 'अब' और 'अभी' के बम्बइया गठजोड़ से बने 'अबी' का तड़का मारते हुए बताया कि डॉकसाब मुझे याद कर रहे थे।

उनके सामने पेश होते ही उनके मुस्कुराते चेहरे को देख मेरे भीतर किसी गुप्त ऊर्जा का संचरण हो गया।

"कैसे हैं जोशीजी?" प्लास्टिक की पतली-सी फाइल में पाँच-सात कागज़ों को रखते हुए उन्होंने पूछा।

"अच्छा हूँ डॉकसाब।"

"समीरा कैसी है?"

"कहीं बेहतर... वैसे आप ज़्यादा जानते होंगे," मैं डरते-सकुचाते मामले को उन्हीं की तरफ बढ़ा देता हूँ।

"आई थिंक शी इज़ रिस्पोंडिंग वैल... बट व्हाट ए सेंसिटिव चाइल्ड शी इज़..."

मैं थोड़ा चकराया।

"दो साल पहले आपका बिज़नेस कैसा चल रहा था मिस्टर जोशी?" वह सशंकित भाव से लफ्ज़ों को चबा-चबाकर बोलने लगे।

"ठीक ही था... ग्लोबल मेल्टडाउन का दौर था, सो थोड़ी मन्दी तो सबकी तरह हमने भी झेली मगर टचवुड, ज़्यादा कुछ नहीं हुआ..."

"हाँ, ज़्यादा कुछ तो नहीं हुआ मगर जो हुआ वह क्या कम था..."

उनकी बातों के मानी कहाँ-से-कहाँ छलाँग मार गए। मैं जानता था वह मुझे कहाँ ज़ीरो-इन कर रहे हैं।

उनके तौर-तरीके में एक गरिमापूर्ण मिलावट ज़रूर थी मगर इरादे में एक बेहिचक साफगोई भी थी।

मुझसे कुछ कहते ही नहीं बन पड़ रहा था।

और वह आगे ज़रा भी कुरेदने की नीयत नहीं रखते थे।

उस लज्जास्पद खामोशी के बीच मुझे गहरी लम्बी साँस आई तो मैंने उनसे एक घूँट पानी की दरकार की।

पानी निगला।

"बट व्हाई, जोशीजी? यू हैव सच ए ब्यूटीफुल फैमिली..."

यह इंजेक्शन देने से पहले स्प्रिट लगाने से कुछ आगे की बात थी।

"मीरा ने कुछ कहा आपसे?"

मेरा अविश्वास किसी टुच्चे गुनाह की तरह बगलें झाँकने लगा।

"बिलकुल नहीं... नॉट ए श्रेड," उन्होंने मुँह बिचकाकर कहा और फिर बोले, "और हाँ... आइंदा यह मत समझिए कि वह छोटी बच्ची है... मोबाइलों की कान-उमेठी करने में वह हम-आपसे कहीं आगे वाली जनरेशन की है... आपके उस चैप्टर ने उसे गहरे से झिंझोड़ा है..."

मैं उन्हें देखते हुए सुन रहा था या सुनते हुए देख रहा था, नहीं मालूम।

वह अन्तराल दे देकर बोल रहे थे।

मैं मंत्रविद्ध-सा था...कि कोई दाग कहाँ जाकर इन्तकाम ले बैठता है...?

"हैट्स ऑफ टू दैट एंजल... बहुत सम्भाला है उसने अपने आपको..." वह चबाते-सोचते पता नहीं क्या-क्या कहे जा रहे थे।

जैसा उन्होंने तभी बताया कि शाम सात बजे उन्हें टीन-एज डिप्रेशन पर होने वाले एक सेमिनार में जाना था... कुछ नए नतीजों को सम्बन्धित लोगों से साझा करने।

मुझे पस्त और बोझिल देख वह मेरे पास आए और किसी मसीहा की तरह कन्धे पर हाथ रखकर बोले, "यू हैव कम आउट ऑफ इट... दिस इज़ द बेस्ट पार्ट ऑफ इट। बट शी हैज़ नॉट!"

उनके जाने के बाद मैंने गौर किया कि मेरे आसपास कितना अँधेरा मण्डरा चुका था।

उस पल मैंने एक मुलायम छौने का यकायक बिल्ली हो जाना महसूस किया।

लुटा-निचुड़ा-सा मैं गाड़ी में आ बैठा हूँ। स्टार्ट करने की ऊर्जा नहीं बची है। बस सोचे जा रहा हूँ कि... बिल्ली को छौने की मुलायमियत कैसे लौटाई जा सकेगी?

ओमा शर्मा: कमिश्नर, आयकर विभाग। हिन्दी के युवा लेखक हैं। मुम्बई में रहते हैं। कथाकार को उनकी कहानी 'दुश्मन मेमना' के लिए वर्ष 2012 के 'रमाकान्त स्मृति' सम्मान से नवाज़ा गया है। अँग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद भी करते हैं।
सभी चित्र: अनुपम रॉय: अम्बेडकर युनिवर्सिटी, दिल्ली से चित्रकारी में एम.ए. कर रहे हैं। शौकिया चित्रकार हैं।

सवालीराम

सवालीरामः पूड़ी क्यों फूलती है?

जवाबः पूड़ियाँ खाना सभी को अच्छा लगता है। सामूहिक भोज के दौरान तो अक्सर हम इन्तज़ार करते हैं ताकि फूली हुई पूड़ियाँ हमें भी मिल जाएँ। कभी आपने सोचा है कि तेल में तलने पर पूड़ियाँ फूलती क्यों हैं? आइए इस बात की पड़ताल करते हैं।

पूड़ी बनने की प्रक्रिया के कई चरण होते हैं। अतः हम सवाल का जवाब भी उन्हीं चरणों में खोजने की कोशिश करते हैं।

पूड़ी बनाने के लिए सबसे पहले हम आटा तैयार करते हैं। इसके लिए हम आटे (यहाँ हम गेहूँ के आटे की बात कर रहे हैं) को पानी से गूँधते हैं। गेहूँ में ग्लूटेन नाम का प्रोटीन पाया जाता है जो लचीलापन पैदा करता है। जब हम आटे को गूँधते हैं तो आटा लोचदार हो जाता है और यह ग्लूटेन की वजह से ही हो पाता है। आटे का इस तरह लोचदार होना, पूड़ी बेलने, उसे एक तय आकार देने तथा इस आकार को बनाए रखने में मदद करता है।

जब हम पूड़ी को तलने के लिए गर्म तेल में डालते हैं तो वह पहले कड़ाही की तली में चली जाती है। जैसे ही पूड़ी गर्म होती है, फूलना शुरू कर देती है और ऊपर आकर तेल में तैरने लगती है।

गर्म तेल में डूबने पर ऊष्मा पाकर जब आटा पकता है तो आटे में मिले पानी का वाष्पीकरण होता है और पानी भाप में तब्दील होने लगता है। पूड़ी का जो हिस्सा तेल में अधिक समय तक डूबा रहता है वह और किनारे ज़्यादा कठोर और मोटे होते हैं जबकि दूसरी परत अपेक्षाकृत पतली लेकिन अपारगम्य (impermeable) होती है। परतों की अपारगम्यता के चलते पानी के वाष्पीकरण से बन रही भाप बाहर नहीं निकल पाती और इन दो परतों के बीच भरने लगती है, और यही भाप पूड़ी को फुला देती है।

इस जवाब को अम्बरीष सोनी ने तैयार किया है।
अम्बरीष सोनी: 'संदर्भ' पत्रिका से सम्बद्ध हैं।

इस बार के सवाल

सवाल: चन्द्रमा छोटा और बड़ा क्यों होता है?

या

सवाल: कौन-सी धातु चाकू से काटी जा सकती है?

इन सवालों के बारे में आप क्या सोचते हैं, आपका क्या अनुमान है, क्या होता होगा? इन सवालों को लेकर आप जो कुछ भी सोचते हैं, सही-गलत की परवाह किए बिना हमारे पास लिखकर भेज दीजिए।

RNI No. : MPHIN/2007/20203

प्रकाशक, मुद्रक, अरविन्द सरदाना की ओर से निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन ई-10, शंकर नगर, बी.डी.ए. कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल-462 016 द्वारा
एकलव्य से प्रकाशित तथा भण्डारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म.प्र.)
से मुद्रित, सम्पादकः राजेश खिंदरी।